तालिका

प्रस्तावना

महात्मा सूरदास

जीवन-वृत्त—हिन्दी साहित्य में महाकवियों की जन्म-तिथि के विषय में निश्चित रूप से कुछ कह सकना असम्भव नहीं तो अति कठिन अवश्य है। इन कवियों ने अपने काव्य-ग्रन्थों में अपनी जन्म-तिथि के विषयों में किंचिन्मात्र भी संकेत नहीं किया है; इसका कारण चाहे सांसारिक ख्याति से बचने की इनकी विरागमयी प्रवृत्ति रही हो अथवा अन्य कोई लोक-निग्रह भावना; किंतु इससे एक बड़ी हानि यह हुई कि इन कवियों की जन्म-तिथियों को न जान सकने के कारण उनकी काव्य-कालीन स्थितियों से पूर्ण परिचय प्राप्त न हो सका, इससे उनके काव्य के सम्यगालोचन में बाधा अवश्य ही उपस्थित हुई। जब इन कवियों की यह प्रवृत्ति रही तब भक्ति-कालीन महात्माओं की तो बात ही निराली है। लोक-कल्याण की ओर उन्मुख रहते हुए भी अपने जीवन-वृत्त से उन्होंने लोक को वंचित रखा, जिसका परिणाम यह हुआ कि उनके शिष्य द्वारा ऐसे महात्माओं के जीवन में उनका आध्यात्मिक प्रभाव बताने के लिए, अनेकानेक विचित्र वृत्त जोड़ दिए गए, जिनपर सहसा न विश्वास ही किया जा सकता है और न पूर्णतः अविश्वास ही। विद्वानों को इसका अनुसन्धान करने के लिए अनुमान पर विशेष बल देना पड़ा। इन्हीं अनुमानों पर हमें महात्मा सूरदास का जन्म, आगरे से मथुरा जानेवाली सड़क पर रुनकता ग्राम में विक्रमी संवत् १५४० के लगभग मानने को बाध्य होना पड़ता है। वे चन्दवरदाई के भाट-कुल में उत्पन्न हुए अथवा सारस्वत

ब्राह्मण कुल में, इसमें भी मतभेद है; पर वे ब्राह्मण कुल में उत्प
हुए थे, यह प्रायः सर्वमान्य है। इसी प्रकार उनके मात
पिता तथा बन्धुओं के विषय में भी अनेक किंवदन्तियाँ है
वे जन्मान्ध थे अथवा किसी स्त्री पर आसक्त होने व बाद
विराग होने पर आँख फोड़कर अन्धे हो गए थे और फि
किसी कुएँ में कई दिन तक पड़े रहने व किसी के (भगवा
कृष्ण ?) द्वारा निकाले जाने आदि अनेक मनोरञ्जक किन्
शङ्कास्पद बातों में न पड़कर हम निर्विवाद रूप से यह कह सक
हैं कि वे अन्धे थे और अन्य महाकवियों अथवा महात्माओ
के समान चर्म-चक्षुओं से वे संसार का अवलोकन करने मे
असमर्थ रहे। श्री विट्ठलनाथजी की उपस्थिति में, पारसौल
ग्राम में उनका देहावसान सं० १६२० के लगभग हुआ, ऐस
अनुमान किया जाता है और इसी समय के, गुरु श्री वल्लभा
चार्य सम्बन्धी 'भरोसो दृढ़ इन चरनन केरो' तथा श्री विट्ठल के
'नेत्र वृत्ति' पूछने पर उत्तर-स्वरूप 'खञ्जन नयन रूप रस माते
वाले पद सूर की गुरु-भक्ति व कृष्ण-भक्तिवाले अन्तिम पद कहे
जाते हैं, जिससे कतिपय विद्वानों को शङ्का होती है कि मृत्यु
शय्या पर पड़े हुए अशक्तावस्था में भी क्या सूरदास ने कविता
या गीत गाते-गाते प्राण-विसर्जन किया ? कुछ भी हो, पर इन
पदों से सूर की गुरु व कृष्ण-भक्ति पर कोई भी आँच नहीं
आती, यह ध्रुव सत्य है।

ग्रन्थ—महात्मा सूरदास विरचित पाँच ग्रन्थों का अनु-
मान लगाया जाता है; उनके नाम ये हैं—सूरसागर, सूर-सारा-
वली, साहित्यलहरी (दृष्टकूट), नलदमयन्ती और ब्याहलो।
अन्तिम दो ग्रन्थ प्रकाश में नहीं आए। साहित्यलहरी में कुछ
कूट पद हैं और कुछ सूरसागर के पद सम्मिलित कर दिए गए
हैं। सूर-सारावली सूरसागर की सूची ही प्रतीत होती है। सर

का सूरसागर ही वास्तव में महान् ग्रन्थ है। इसे बारह स्कन्धों में समाप्त किया गया है, इनमें दशम स्कन्ध का पूर्वार्द्ध ही स्कन्ध कहा जा सकता है, शेष तो बहुत छोटे हैं और उनमें काव्य-छटा भी नगण्य-सी है। इस ग्रन्थ का आधार यद्यपि श्रीमद्भागवत है, तथापि इसमें कथाओं का क्रम-विन्यास उपयुक्त नहीं है। दशमस्कन्ध में श्रीकृष्ण-लीलाओं का चित्रण है और सूर का चित्त भी इसी के वर्णन में अधिक रमा है। सूरदासजी ब्रजवासी राधा-कृष्ण के अनन्य उपासक थे। उनके ग्रन्थों के रसास्वादन के पूर्व यह आवश्यक प्रतीत होता है कि सूर की राधा-कृष्ण-भक्ति विषयक उपासना का संक्षिप्त विवेचन कर लिया जाय। सूर को पुष्टि सम्प्रदाय से इस भक्ति की प्रेरणा मिली और आगे चलकर तो वे इस संप्रदाय के 'जहाज' कहे गए।

पुष्टिमार्ग—इस मार्ग का प्रदर्शन करनेवाले स्वामी वल्लभाचार्यजी थे। स्वामी शंकराचार्य के मायावाद से पीछा छुड़ाने की तीव्र इच्छा पंद्रहवीं, सोलहवीं शताब्दी में प्रत्येक आचार्य को जाग्रत हुई और इस युग में चार संप्रदाय विशेष रूप से प्रसिद्ध हुए। (१) श्री विष्णुस्वामी का रुद्र संप्रदाय, (२) श्री रामानुजाचार्य का श्री सम्प्रदाय, (३) श्री निंबार्काचार्य का सनकादि संप्रदाय और (४) श्री मध्वाचार्य का ब्रह्म संप्रदाय। दक्षिण में एक बार श्री वल्लभाचार्य जी ने स्वामी शंकराचार्यजी के मतावलंबियों को शास्त्रार्थ में पराजित किया; तब श्री विष्णुस्वामी ने अपने सम्प्रदाय का श्री वल्लभाचार्यजी को मुखिया बना दिया। इसी समय से श्री वल्लभाचार्यजी का उत्कर्ष समझना चाहिए। स्वामी शंकराचार्यजी ने निर्गुण ब्रह्म की सत्ता स्वीकार करते हुए सगुण को मायिक ठहराया था, पर स्वामी वल्लभाचार्यजी ने सारी सृष्टि की लीलाओं को अनुकृति ब्रह्म (श्रीकृष्ण) में देखते हुए

निर्गुण को निर्दिष्ट किया गया। प्रेम-साधना में लोक व वेद दोनों की मर्यादा का ध्यान उचित बतलाते हुए उन्होंने देश-काल का ध्यान रखकर अपना पुष्टिमार्ग चलाया. इसकी उपासना पद्धति, योग, ज्ञान व विराग की साधना से मुक्त होकर भक्ति, दर्शन-क्षेत्र में इस मार्ग का नाम शुद्धाद्वैत हुआ और साधन-मार्ग में इसे पुष्टिमार्ग कहा गया, क्योंकि इसमें साधना से पवित्र रहने के कारण सदा सर्वथा शुद्ध माना गया है। पुष्टि का अर्थ इस मार्ग में जीव पर ईशानुग्रह है, जिससे उसका आत्मिक पोषण होता है। "पोषणं तदनुग्रहः" श्रीमद्भागवत में इस उक्ति के अनुसार भगवान् जीव पर कृपा करते हुए उसे पुष्ट बनाते हैं। भागवत के द्वितीय स्कंध के दस विषय—सर्ग, विसर्ग, स्थान, मन्वंतर, ईशानुग्रह आदि में पोषण को चौथा स्थान दिया गया है और भक्तों पर प्रभु की सच्ची कृपा का होना ही पोषण—सच्चा पोषण माना गया है। पुष्टि संप्रदाय में निर्धारित उपासना पद्धति को समझने के लिए हमें भक्ति का स्वरूप जानना आवश्यक प्रतीत होता है। साधारणतः भक्ति दो प्रकार की मानी गई है (१) वैधी (शास्त्रानुमोदित), (२) रागानुगा (भावनावलंबित)। इस रागानुगा भक्ति के कामरूपा व सम्बन्धरूपा दो भेद किये गए हैं और सम्बन्धरूपा में अनन्य (उद्धव), वात्सल्य (नंद), दाम्पत्य (राधा), दास्य (विदुर), सख्य (अर्जुन) पांच प्रकार माने गए हैं। इन प्रकारों में से किसी भी प्रकार का भक्त क्यों न हो, पर पुष्टिमार्गीया भक्ति प्राप्त करने के लिए उसे निम्नांकित चार स्वरूपों में से जाना पड़ता है, वे स्वरूप हैं (१) प्रवाह (प्रभु के प्रति प्रेमोदय), (२) मर्यादा (प्रभु के प्रति आसक्ति), (३) पुष्टि (प्रभु के प्रति व्यसन), (४) शुद्धपुष्टि (प्रभु का कृपा-पात्र)। इस पुष्टि को प्राप्त करने के लिए गुरु-सेवा ...न ही वांछनीय है। अहंकार का पूर्ण नाश कर आत्म-

समर्पण करना ही पुष्टि संप्रदाय की ओर अग्रसर कर सकता है और इसके लिए भगवान की 'सेवा' करना आवश्यक है और यह सेवा भी निम्नांकित रूप में की जाती है—(१) नाम-सेवा (२) स्वरूप-सेवा । स्वरूप-सेवा—तनुजा (तन से), वित्तजा (धन से) मानसी (मन से) तीन प्रकार की मानी गई है। मानसी सेवा—मर्यादामार्गीया (ज्ञान) और पुष्टिमार्गीया (भक्ति) दो प्रकार की मानी गई है । इन स्वरूपों और प्रकारों में अपने को पूर्णरूपेण ढालकर, आत्म निवेदन करता हुआ सर्वस्व समर्पण करनेवाला भक्त ही पुष्टिमार्गीय भक्त हो सकता है और सूरदासजी ऐसे ही एक सख्य रूप में कृष्ण की उपासना करनेवाले महान भक्त थे ।

राधा-कृष्ण की भावना—पुष्टिमार्ग में पहले पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान कृष्ण की उपासना बतलाई गई थी। ये कृष्ण भी पहलेवाले वासुदेव, नारायण और गोपाल के रूपान्तर ही हैं, जो भागवत में 'ब्रह्म' की संज्ञा को प्राप्त कराये गए हैं । भागवत तक राधा का कहीं नाम नहीं मिलता । कदाचित् दक्षिण में किसी सम्प्रदाय की अथवा आभीरों की राधा कोई इष्टदेवी रही हों और बाद में गोपालकृष्ण के नाम के साथ जोड़ दी गई हों। गोपाल तटयिनी नामक उपनिषद् में सर्वप्रथम राधा का नाम मिलता है । श्री वल्लभाचार्यजी के पुत्र श्री विट्ठलनाथजी ने 'शृङ्गार रसमंडन' में राधा को सम्मिलित किया है । श्री वल्लभाचार्यजी के इस मार्ग में वात्सल्य भाव की प्रधानता होते हुए भी जब 'कांताभाव' की आवश्यकता पूर्ण पुष्टि के लिए प्रतीत हुई तब मेरी समझ में 'राधा' के दो अक्षरों के सुन्दर नाम को 'कृष्ण' के साथ मेल खाते हुए देखकर 'राधा-कृष्ण' नाम से उपासना की संगति बैठाने का सफल प्रयास किया गया और अब तो राधा, कृष्ण की दो शक्तियों में एक शक्ति मानी

जाती है। अंतरंग (राधा) व बहिरंग (माया)। राधा के संयोग ही से भगवान् की 'हरिलीला' होती है और पुष्टिमार्ग में इस लीला का बड़ा महत्त्व माना गया है। संसार में हास्य-रुदन, उल्लास-विलास, सृजन-ध्वंस आदि का द्विविध खेल चला करता है और सर्वत्र हरि रमे हुए हैं, इस कारण हरि की यह लीला' शाश्वत होती ही रहती है। विश्वपुरुष कृष्ण और प्रकृति राधा अनासक्त रूप में संयुक्त होकर इस पृथ्वी पर क्रीड़ा कर रहे हैं। अनासक्त होने पर ही मनुष्य को इस हरि-लीला का भान हो सकता है। इस लीला को देखने व समझने के लिए पुष्टिमार्गीय भक्त युक्ति को तुच्छ मानकर भगवान् की झाँकियों के शृङ्गार में विश्वास करता है। पुष्टिमार्ग मे ये (मंगला, शृङ्गार, ग्वाल, राजभोग, उत्थापन, भोग, संध्या, शयन) आठ प्रकार की मानी गई हैं जिनमें अन्नकूट, हिंडोला, होली, रास, दधि-लीला, मान-लीला आदि की क्रीड़ायें आज भी इस मार्ग में बड़े विलास के साथ की जाती हैं। इस संप्रदाय के विलास का प्रभाव जनता पर चाहे जो कुछ पड़ा हो, पर इस संप्रदाय की गद्दी के प्रेमियों व भक्तों ने व्रज-भाषा में जो सुन्दर व अद्भुत प्रेम-संगीत-धारा प्रवाहित की है उसने मुरझाए हुए असंख्य हिंदुओं के मन को सजीव व सरस कर दिया—इसे कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। भगवान् की लीला के गान में उनके सुन्दर अंश को लेकर पद-रचना करनेवाले कई कवि हो गए हैं; उनमें श्री विट्ठलनाथजी ने चार अपने और चार अपने पिता के शिष्यों को लेकर 'अष्टछाप' की स्थापना की। ये आठ कवि (कुंभनदास, सूरदास, परमानंददास, कृष्णदास, गोविन्दस्वामी, नंददास, छीतस्वामी, चतुर्भुजदास) पुष्टिमार्ग में आठ दैवी जीव माने जाते हैं। ये आठों प्रहर, दिन में सखा व रात्रि में सखी रूप से भगवान् के साथ रहते हुए उनकी लीला में सहयोग

होते रहते हैं ऐसा विश्वास अब भी पुष्टि सम्प्रदाय में किया जाता है। सूरदासजी गोवर्द्धननाथ के उत्थापन झाँकी के समय उनका सखा व अंतरंगता सखी रूप में प्रभु के साथ मान-लीला में सम्मिलित होते रहते हैं ऐसा विश्वास भक्तों का बना हुआ है। इन अष्टछाप के कवियों तथा तत्कालीन अन्य भक्तों में श्री महात्मा सूरदास सर्वश्रेष्ठ थे, कदाचित् यह बतलाने की आवश्यकता नहीं है।

काव्य—विद्वानों ने रमणीय अर्थ के प्रतिपादक रसा-त्मक वाक्य को काव्य माना है। वस्तुतः काव्य मानव-जीवन का चित्र है यह एक रसमयी रचना है जिसकी स्थिरता भाव-पक्ष में है। काव्य स्वप्न-लोक की वस्तु नहीं और यह केवल बौद्धिक निरूपण भी नहीं है यह तो विकृत को भी सुन्दर करने वाली एक ज्योति है जिसमें ज्योतित हुआ भावना व भाषा का पुरोहित कवि प्रकृति के संकेतों का अनुवाद करता हुआ हमें रसमग्न करता रहता है। इस प्रकार के काव्य के साहित्यकारों ने महाकाव्य, खण्डकाव्य, मुक्तककाव्य व गीतिकाव्य आदि अनेक भेद किये हैं। गीतिकाव्य की अपनी कुछ निजी विशे-षता है। हिन्दी साहित्य में गीतिकाव्य का इतिहास एक प्रवाहित होनेवाली उस सरिता के समान है जो बहते-बहते सूख गई है और फिर कुछ समय बाद अन्तःसलिला की भाँति पुनः बह निकली है। साधारणतः गीतों को हम (१) लोक गीत, (२) साहित्यिक गीत, (३) गायक गीत—तीन रूपों में बाँट सकते हैं। प्राचीन काल से आधुनिक काल तक तीनों का स्वरूप देखा जा सकता है, यद्यपि कालानुसार उसमें आश्चर्य-जनक परिवर्तन हुआ है। हिंदी साहित्य में वीरगाथा-काल के गीत चारण-प्रणाली की संकुचित परिधि में रहे और इनमें जीवन की मार्मिकता का भान नहीं होता। भक्ति-काल के कवियों

ने अवश्य ही गेय पदों की रचना की, पर इस काल के कवि अधिकतर भक्त थे और उन्होंने आत्म-निवेदन में अथवा प्रभु की महानता के चित्रण में ही अपने गीत लिखे, जीवन की वास्तविक मार्मिकता का वहाँ भी अभाव पाया जाता है। रीति-कालीन शृङ्गारिक कवियों को तो नायिका-भेद से ही अवकाश नहीं मिला, वे न वीर थे, न भक्त; अतः उनमें न प्रबंध मिला और न गीति की पवित्रता ही। श्री भारतेन्दुजी के नाटकों में आए हुए गीतों में जीवन की मार्मिकता का प्रकाश मिला; फिर छायावादी, रहस्यवादी व आधुनिक प्रगतिवादी आदि कवियों में इसका अद्भुत स्फुरण देखा जाता है। आधुनिक युग में हिंदी गीतिकाव्य को नवीन चेतना मिली और आत्म-निवेदन व मनोरंजन दोनों प्रयोजनों में गीत काव्य की विशेषताएँ स्पष्टतः देखी जा सकती हैं। लोक-गीतों की मीमांसा करते समय अनायास ही यह विचार सत्य प्रतीत होने लगता है कि नारी के द्वारा ही गीतों का सृजन हुआ है। नारी ने कितना गाया है, इसका अनुमान भी नहीं लगाया जा सकता। प्राचीन काल से लेकर अब तक नारी के ये लोक-गीत आज भी अपनी संगीतात्मक भावनात्मक भावना से सन्निहित हैं और अपनी सत्ता अक्षुण्ण रखे हुए हैं। गायक गीतों में हम प्राचीन काल से आए हुए गायकों की विभिन्न तानों और लय आदि में गाए हुए पदों से गीति का स्वरूप समझ सकते हैं। साहित्यिक गीतों ने अवश्य ही विभिन्न रूप धारण किए हैं। आधुनिक काल में तो प्रसाद, पंत, निराला, नवीन, वर्मा, दिनकर, बच्चन, सुमन, सुधीन्द्र आदि कवियों ने इन गीतों में अद्भुत नवीनता भर दी [illegible] में हम [illegible], [illegible] प्रेम-[illegible], प्रेम-[illegible], [illegible] तथा चतुर्दशपदी (सॉनेट), स्तवन गीत (ओड), [illegible] (एलिजी) व [illegible] आदि [illegible]

में इन गीतों की मीमांसा कर सकते हैं। यदि हम चाहें तो कह सकते हैं कि भक्ति-काल में भक्तों द्वारा भगवान को जिन गीतों द्वारा भावाञ्जलि प्रदान की गई थी, आधुनिक युग में उन्हीं गीतों के प्रकारों को किंचित् परिवर्तित करके कवियों द्वारा मानव-प्रेमांजलि प्रदान की गई। गीतों में अनेक परिवर्तन हुए, पर उसकी ज्ञेय संज्ञा आज भी ज्यों-की-त्यों बनी हुई है। गीतिकाव्य की पूर्णता ही गायन + संगीत + भाव (कविता) से मानी जाती है। आत्म-निवेदन में यह गीतिकाव्य लौकिक व अलौकिक, विरह व मिलन की कविता में प्रस्फुटित होता है और संकीर्तन में संगीत-काव्य से युक्त होकर यह गीतिकाव्य ब्रह्मानंद सहोदर हो जाता है। यह मनुष्य के अंतस्तल को स्पर्श करनेवाला है और इस दृष्टि से यह मनुष्य के व्यक्तित्व को जाग्रत करता है। भक्तिकालीन कवियों में तुलसी व सूर ने बड़ी ही मार्मिकता से इन गीतों के द्वारा हृदय-मंथन किया है। तुलसी को तो कौशिल्या, भरत आदि का हृदय खोलकर दिखाने के लिए ही गीतावली का सृजन करना पड़ा। सूरदासजी ने तो पूर्णतः गीतिकाव्य ही लिखा है। अतः मन व हृदय की भावनाओं को जितनी सुन्दरता व विस्तार से सूर गीति-काव्य के द्वारा दिखा सके हैं भक्ति-युग में अन्य कोई कवि नहीं दिखा सका। इस रूप में आइए सूर के काव्य की किंचित् विशेषताएँ देखते चलें—

गीतिकाव्य के अभी दो प्रयोजन बतलाए गए थे, आत्म-निवेदन व मनोरंजन। सूरदासजी के आत्म निवेदन संबंधी पदों की किंचित् मीमांसा पहले करलें तो उपयुक्त होगा। आत्म-निवेदन में भक्त को अपनी हीनता प्रभु की महानता के सम्मुख खोलकर दिखानी पड़ती है। प्रभु सब प्रकार से महान व समर्थ हैं और उनसे ही भक्त का भला हो सकता है, ऐसे दृढ़ विश्वास

"जाकी कृपा पंगु गिरि लंघै, अंधे को सब कुछ दरसाई।
बहिरो सुनै मूक पुनि बोलै, रंक चलै सिर छत्र धराई॥"

ऐसा शक्ति-सम्पन्न प्रभु अविगत गतिवाला है जिसकी गति का पता साधारणतः मन व वाणी से अगम व अगोचर होने के कारण नहीं लग सकता और इसी कारण सूर ने दीनानाथ भगवान् की साकार प्रतिमा का ध्यान किया—

"रूप रेख गुण जाति जुगति बिनु निरालंब मन चकृत धावै।
सब विधि अगम विचारहि ताते सूर सगुण लीला पद गावै।"

और जिसकी सगुण लीला का सूर ने गान किया है उस प्रभु का एक सुभाव है—

प्रभु को देखो एक सुभाई।
अति गंभीर उदार उदधि सरि जान शिरोमणि राई॥
तिनकासों अपने जन को गुण मानत मेरु समान।
सकुचि समुद्र गनत अपराधहि बूँद तुल्य भगवान॥

ऐसे उदार और महान् प्रभु को छोड़कर जो इस भवसागर में इधर-उधर भटक रहा है, सूरदासजी कहते हैं वह बड़ा ही अभागा है—

"भक्त विरह कातर करुणामय डोलत पाछे लागे।
सूरदास ऐसे स्वामी को देहि सु पीठ अभागे।"

भक्त को भगवान की अपरिमीम शक्ति के प्रति अटूट श्रद्धा के साथ-साथ यह भी विश्वास होना चाहिए कि संकट का साथी यदि कोई हो सकता है, तो वह दयालु भगवान् ही! और सूर को इसका पूर्ण विश्वास है, वे कहते हैं—

तुम हरि साँकरे के साथी!

सुनत पुकार परम आतुर ह्वै, दौरि छुड़ायो हाथी!
गर्भ परीक्षित रक्षा कीनी, वेद उपनिषद साखी।

तर गए हैं उन्हीं का गान करने से कितना महान् सुख मिलेगा; सूर बतलाते हैं—

"जो सुख होत गोपालहिं गाए।
मो नहिं होत जप-तप के कीने कोटिक तीरथ न्हाये।"

सूरदासजी कहते हैं कि "सोइ रसना जो हरि गुण गावै" और नेत्र व श्रवण, आदि की भी सार्थकता तभी है जब वे प्रभु के दर्शन व गुण श्रवण मे लगे रहें, अन्यथा मनुष्य तो अपने आपही भूला हुआ भटक रहा है—

"अपुनपो आपुन ही मे बिसरयो।
जैसे स्वान काँच मन्दिर मे भ्रमि-भ्रमि भूकि मरयो।
× × ×
सूरदास नलिनी को सुवटा कहि कौने जकरयो॥"

ऐसे भ्रम-पाश मे बचने का केवल एक ही उपाय है कि इस कलियुग में हरि का भजन किया जाय।

"है हरि नाम को आधार।
और इहि कलिकाल नाँही रह्यो विधि व्यवहार॥
× × ×
सूर हरि को सुयश गावत जाहि मिट भवभार॥"

गोपाल के भजन को छोड़कर अन्य किसी का ध्यान रखनेवाले को सूर महामूढ़ समझते हैं, जो अपने जन्म को व्यर्थ गँवा रहा है—

"आन देव हरि तजि भजे सो जन्म गँवावे।
× × ×
सूरदास हरिनाम लिये दुःख निकट न आवे॥"

जिस प्रभु से चित्त मे प्रेम होता है, उसके स्थान आदि से स्वाभाविक मोह हो जाता है और सच्चा भक्त उसे छोड़कर

वैकुण्ठ आदि जाने का सुख—सुख नहीं समझता—सूर के शब्दों में तो वहीं भव-जाल से मुक्ति होगी—

"वंशीवट वृन्दावन यमुना तजि, वैकुण्ठ को जाए।
सूरदास हरि को सुमिरन करि बहुरि न भव चलि आए॥"

ऐसे सर्वशक्ति-सम्पन्न महाप्रभु की असीम अनुकम्पा प्राप्त करने के लिए महात्मा सूरदास ने अपना हृदय खोलकर रख दिया है। प्रभु के सम्मुख हृदय खोलकर रखना ही आत्म-निवेदन की चरम सीमा है। कहना नहीं होगा कि सूर में गीति-काव्य के इस प्रयोजन की सम्पूर्णता दिखलाई पड़ती है। वस्तुतः तुलसी व सूर ही आत्म-निवेदन में पूर्णरूप से खुल सके हैं और भक्तों को मार्ग दिखला सके हैं।

संक्षेप में यहाँ तक गीतिकाव्य के एक प्रयोजन (आत्म-निवेदन) का चित्रण किया गया है। अब आइए उसके दूसरे प्रयोजन **मनोरंजन की दृष्टि** से सूर के सागर की किंचित् बूँदों का रसास्वादन करने का प्रयास करें! सूरदासजी का वर्णन सर्वथा सांगोपांग है और मानव-जीवन का यद्यपि पूर्ण चित्रण इन्होंने नहीं किया, किंतु जीवन के जिस कोने को इन्होंने छुआ है, उसे इतना पूर्ण कर दिया है कि उसके आगे कहने के लिए कुछ रहा ही नहा। सूर के साहित्यिक मनोरंजन का सौष्ठव देखने के लिए सूरदास को हम तीन रूपों में रखने का प्रयत्न करते हैं—(१) सूर-कवि, (२) सूर-भक्त, (३) सूर-कथा गायक। इनमें भक्त-रूप में (आत्म-निवेदन करते हुए) हम सूर्य के दर्शन कर चुके हैं। ब्रज के बाहर, उसकी प्रेम-लीला के परे संकेत रूप में चलताऊ प्रभु-चमत्कार सम्बन्धी बात कहने में वे कोरे कथा-गायक ही हैं और उनके उन कथा-सूत्रों में कोई विशेषता नहीं। आओ, अब सूरदासजी को कवि के रूप में देखें। इस

सम्बन्ध में हमें सूर के वर्णनों पर एक विहंगम दृष्टि डालना आवश्यक होगी। समझने के लिए उनके वर्णनों को हम वात्सल्य व शृङ्गार दो रूपों में विभाजित कर लेते हैं। आइए पहले वात्सल्य-वर्णन को देखें। श्रीकृष्ण की बाल-लीला की ओर दृष्टि डालने के पूर्व यह जानना आवश्यक है कि सूर ने भगवान की सुन्दर शक्ति का ही अधिक वर्णन किया है और यह सुन्दरता श्रीकृष्ण की बाल-सुलभ चपलता आदि पर विशेष रूप से अंकित की गई है। उनका बाल-लीला वर्णन बड़ा ही उत्कृष्ट माना गया है। श्रीकृष्ण के जन्म समय का वर्णन, माता द्वारा उनका लालन-पालन, माता से मक्खन-याचना, माता की खीझ, दूध-पीना फिर बड़े होने पर सखाओं के साथ खेलना, आपस में झगड़ना, फिर कुछ बड़े होकर गलियों में घूमने आदि का ऐसा सजीव व सरस चित्रण सूर ने किया है कि कभी-कभी जी में ऐसा आता है कि सूरदासजी अंधे नहीं रहे होंगे और कम-से-कम जन्मांध मानने को चित्त नहीं चाहता। बिना देखे बालकों की क्रियाओं का ऐसा सुन्दर वर्णन हो सकता है—सहसा चित्त इसपर नहीं जमता; पर प्रज्ञाचक्षु सूरदास समर्थ कवि थे और उनके लिए सब कुछ सम्भव प्रतीत होता है।

महरि यशोदा के अद्भुत 'ढोटा' होने से आज नंद-ग्राम में आनन्द की बधाई की धूम है—

"आजु निशान बाजै नंद महर के।
आनंद मगन नर गोकुल शहर के॥"

महरि बढ़ई से सुन्दर पालना गढ़ने के लिए कहती हैं और बढ़ई बहुत ही सुन्दर पालना ले आता है और उस सुन्दर पालने में—

"यशोदा हरि पालनें झुलावैं।
हलरावैं दुलराइ मल्हावैं जोइ सोइ कछु गावैं॥"

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से किंचित् इसकी आगे की पंक्ति पर ध्यान दीजिए—

"मेरे लाल को आउ निंदरिया काहे न आनि सुवावै।"
और इसी नींद को बुलाने के लिए माँ 'जो सोई कछु' गाती है और हम सब यह जानते हैं कि छोटे बालक को सुलाना कितना कठिन कार्य है जिसे माता ही सरल करती रहती है। उसको इसमें परम सुख भी मिलता है। इसीलिए सूर ने इस पद के अंत में कहा—

"जो सुख सूर अमर मुनि दुर्लभ सो नंद-भामिनि पावै।"

महाकवि तुलसीदासजी का पद—

"पालने रघुपति झुलावै।

लैन्ले नाम सप्रेम सरस स्वर कौसल्या कल कीरति गावै।"

इस सम्बन्ध में द्रष्टव्य है—दोनों महात्माओं का चित्त अपने इष्टदेव के इस शैशवावस्था का चित्रण करने में कितना अधिक रमा है। माता यशोदा के हृदय की स्वाभाविक इच्छा का कितना ही सरस चित्रण सूर ने किया है—

"मेरो नान्हरिया गोपाल वेगि बड़ो किनि होहि।

इहि मुख मधुरे वचनन हँसि कबहूँ जननि कहोगे मोहिं॥"

माताओं के हृदय में यह प्राकृतिक भावना उत्पन्न होती है कि उनके शिशु बड़े हो जायें और वे अपने मुख से उन्हें माँ कहकर पुकारने लगें। अवस्थानुसार बालक बढते ही हैं, पर माँ की इच्छा तो बस या तो माँ ही जानती है या सूर ऐसा महाकवि—जो कह उठता है—

" ... ति मन अभिलाष करै।

... लाल घुटुरुवन रेंगे कब धरनी पग द्वैक धरै॥

और माता यशोदा की निरंतर कामना से कृष्ण बढ़ने लगे। उनका अन्नप्राशन संस्कार हुआ। वे बड़े होकर नंद के आँगन में खेलने लगे। घुटनों से चलने और आँगन में गिरते हुए धूल-धूसरित शरीर से सभी का चित्त आकर्षित करने लगे। वे अब कुछ बोलने लगे हैं और माता से कहने लगे—

"तनिक दैरी माइ माखन तनिक दैरी माइ।
तनिक कर पर तनिक रोटी माँगत चरन चलाइ॥"

तथा माता भी बढ़ावा देने लगी कि "कजरी को पय पिअहु लाल तेरी चोटी बढ़े।" और कृष्ण ने दूध पीकर देखा कि चोटी तो बढ़ी ही नहीं तब सूर का चातुर्य देखिए—बाल-सुलभ चापल्यवश कृष्ण ने माँ से कहा—

"किती बार मोहिं दूध पियत भई यह अजहूँ है छोटी!"
× × × ×
काँचो दूध पिवावत पचि-पचि देत न माखन रोटी॥"

और ऐसी बाल-सुलभ सौंदर्य-समन्वित बातें सुनकर कौन माता होगी जो अपने को उस बालक पर निछावर न कर दे और इसीलिये हरि-हलधर की जोड़ी मनाती हुई माता—

"श्यामसुन्दर गिरिधरन ऊपर सूर बलि-बलि जाइ।"

कृष्ण की बलैयाँ लेती है। माँ बालक को बहलाने के लिए 'चंदा' दिखा देती है और फिर "लैहोंरी माँ चन्दा चहोंगो" की रट लगानेवाले कृष्ण जलपुट भीतरवाले चंद प्रतिबिम्ब से संतुष्ट नहीं होते। अतः माता उसे लाने के लिए—

"गगन मंडल तें गहि आन्यो है पंछी एक पठैहों।
सूरदास प्रभु इती बात को कत मेरो लाल हठैहों॥"

आदि कहकर आश्वासन देती है तथा श्रीकृष्ण से 'रारि' न करने के लिए प्रार्थना करती-सी दिखलाई देती है।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से किंचित इसकी आगे की पंक्ति पर ध्यान दीजिए --

"मेरे लाल को आउ निंदरिया काहे न आनि सुवावै।"
और इसी नींद को बुलाने के लिए माँ 'जो सोई कछु' गाती है और हम सब यह जानते हैं कि छोटे बालक को सुलाना कितना कठिन कार्य है जिसे माता ही सरल करती रहती है। उसको इसमें परम सुख भी मिलता है। इसीलिए सूर ने इस पद के अंत में कहा—

"जो सुख सूर अमर मुनि दुर्लभ सो नंद-भामिनि पावै।"

महाकवि तुलसीदासजी का पद—

"पालने रघुपति झुलावै।

लै-लै नाम सप्रेम सरस स्वर कौसल्या कल कीरति गावै।"

इस सम्बन्ध में द्रष्टव्य है—दोनों महात्माओं का चित्त अपने इष्टदेव के इस शैशवावस्था का चित्रण करने में कितना अधिक रमा है। माता यशोदा के हृदय की स्वाभाविक इच्छा का कितना ही सरस चित्रण सूर ने किया है—

"मेरो नान्हरिया गोपाल वेगि बड़ो किनि होहि।

इहि मुख मधुरे बचनन हँसि कबहूँ जननि कहोगे मोहिं॥"

माताओं के हृदय में यह प्राकृतिक भावना उत्पन्न होती है कि उनके शिशु बड़े हो जायें और वे अपने मुख से उन्हें माँ कहकर पुकारने लगें। अवस्थानुसार बालक बढ़ते ही हैं, पर माँ की इच्छा तो बस या तो माँ ही जानती है या सूर ऐसा महाकवि—जो कह उठता है—

"यशुमति मन अभिलाष करै।

कब मेरो लाल घुटुरुवन रेंगै कब धरनी पग द्वैक धरै॥

और माता यशोदा की निरंतर कामना से कृष्ण बढ़ने लगे। उनका अन्नप्राशन संस्कार हुआ। वे बड़े होकर नंद के आँगन में खेलने लगे। घुटनों से चलते और आँगन में गिरते हुए धूल-धूसरित शरीर से सभी का चित्त आकर्षित करने लगे। वे अब कुछ बोलने लगे हैं और माता से कहने लगे—

"तनिक देरी माइ माखन तनिक देरी माइ।
तनिक कर पर तनिक रोटी माँगत चरन चलाइ॥"

तथा माता भी बढ़ावा देने लगी कि "कजरी को पय पिअहु लाल तेरी चोटी बढ़े।" और कृष्ण ने दूध पीकर देखा कि चोटी तो बढ़ी ही नहीं तब सूर का चातुर्य देखिए—बाल-सुलभ चापल्यवश कृष्ण ने माँ से कहा—

"किती बार मोहिं दूध पियत भई यह अजहूँ है छोटी!"
× × × ×
काँचो दूध पियावत पचि-पचि देत न माखन रोटी॥"

और ऐसी बाल-सुलभ सौंदर्य-समन्वित बातें सुनकर कौन माता होगी जो अपने को उस बालक पर निछावर न कर दे और इसीलिये हरि-हलधर की जोड़ी मनाती हुई माता—

"श्यामसुन्दर गिरिधरन ऊपर सूर बलि-बलि जाइ।"

कृष्ण की बलैयाँ लेती है। माँ बालक को बहलाने के लिए 'चंदा' दिखा देती है और फिर "लैहौंरी माँ चन्दा चहौंगो" की रट लगानेवाले कृष्ण जलपुट भीतरवाले चंद प्रतिबिम्ब से संतुष्ट नहीं होते। अतः माता उसे लाने के लिए—

"गगन मंडल तें गहि आन्यो है पंछी एक पठैहों।
सूरदास प्रभु इती बात को कब मेरो लाल हठैहौ॥"

आदि कहकर आश्वासन देती है तथा श्रीकृष्ण से 'रारि' न करने के लिए प्रार्थना करती-सी दिखलाई देती है।

कृष्ण और कुछ बड़े होते हैं तथा खेलने के लिए बाह
चले जाते हैं। बलदाऊ उन्हें न जाने क्या-क्या कहकर खिज
देते हैं और बालक कृष्ण माता यशोदा से उलाहना दें
आते हैं—

"मैया मोहिं दाऊ बहुत खिजायो।
मोसों कहत मोल को लीनो तू यशुमति कब जायो॥"

बेचारी माता को श्रीकृष्ण की माता होने के लिए कितन
बड़ा प्रयास करना पड़ता है—

"सुनहु कान्ह बलभद्र चबाई जनमत ही को धूत।
सूर स्याम मो गोधन की सौं हौं माता तू पूत॥"

और यही नहीं, श्रीकृष्ण नंद द्वारा बलराम को जब त
ताड़ना नहीं दिलवा देते तब तक पुनः खेलने के लिए जाने क
तैयार नहीं होते—

"खेलन अब मेरो जात बलैया।

× × ×

सूर नंद बलरामहिं धिरयो सुनि मन हरष कन्हैया॥"

श्रीकृष्ण अन्य बालकों के समान खेलने-कूदने लगे औ
कभी-कभी माटी भी खाने लगे। माता यशोदा के सामने
पकड़ कर लाए जाते हैं और माँ के डाँटने पर मुँह खोलक
अखिल ब्रह्मांड का रूप दर्शन कराकर माता को व्याकुल क
देते हैं। माता को इस समय विराट् दर्शन करवाने में सूर
सहज कवित्व में चाहे किन्हीं-किन्हीं को शुष्कता दिख जाए
पर ऐसे प्रसंग एक तो अधिक नहीं हैं और फिर कभी-कभी सू
को अपने बाल-कृष्ण को महाप्रभु की महत्ता सम्पन्न भी ते
बताना पड़ता है, अतः उसमें नीरसता का ध्यान न करना ही
उपयुक्त होगा। अब कृष्ण कुछ और बड़े हो गए तथा माखन
चुराकर खाने लगे। उनकी यह माखन-चोरी, छोटे

अवस्था के कारण, पहले तो गोपियों को कुछ अटपटी लगती है और माता यशोदा को तो बहुत ही अधिक अद्भुत! क्योंकि जिस बालक के लिए घर में दूध, दही, मक्खन के भाँड़े पर भाँड़े भरे रहते हैं—वह बाहर जाकर चोरी से मक्खन खाए—ऐसा समझकर गया वह जानकर बाहरवाले क्या समझेंगे कि मैं बालक को भूखा रखती हूँ! माता के हृदय में स्वाभाविक संकोच व दुःख उत्पन्न होता है और इधर श्रीकृष्ण की बालसुलभ उक्ति—

"मैया मैं नहिं माखन खायो।"

उन्हें विचित्र स्थिति में डाल देती है और अंत में माँ यशोदा को विहँसकर कृष्ण को कंठ लगाते ही बनता है, अन्य सब विचार ज्यों का त्यों धरा रह जाता है। इधर कृष्ण की 'अचगरी' और अधिक बढ़ जाती है। वे अन्य सखाओं को एकत्रकर माखन चुराते और माखन भाजन भी फोड़ देते हैं। बालकों के नटखटपन का बड़ा ही विशद चित्रण सूरदास ने किया है और बार बार गोपियों का उलाहना सुनकर यशोदा कृष्ण को बाँध देती हैं। ऊखल में बँधकर भी कृष्ण अपने सौंदर्य के कारण गोपियों के मन में—जो उनका उलाहना देने आती हैं, अद्भुत रस संचार करते हैं जो अनुकम्पा से भरकर उन्हें छुड़ाने की प्रार्थना करती हैं; पर सूरदास को तो यहाँ यमलार्जुन का उद्धारकर प्रभु के प्रभुत्व की छाप बैठानी है, अतः गोपियों के कहने से यशोदा कृष्ण को नहीं छोड़ती और जब सब युवतियाँ चली गईं तब—

"तबहिं श्याम इक बुद्धि उपाई।
युवती गईं घरनि सब अपने गृह कारज जननी अटकाई॥
× × ×
दिये गिराय धरणि दोऊ तरु तब द्वै सुत प्रगट देखाई।
× × ×

इस प्रकार अपनी लीला प्रदर्शित करते हुए बालक कृष्ण

गोपियों को सुख देने लगे। वे कुछ और बड़े हुए और गायों के पीछे वन में उन्हें चराने के निमित्त जाने लगे। यहाँ पर कलेवा, छाक, गोदोहन आदि का बहुत ही अनुपम वर्णन सूर ने किया है। कौन-कौन से पद उद्धरित किए जायँ, सभी पढ़ने व मनन करने योग्य हैं। विस्तार-भय से संकेतमात्र ही में किन्हीं-किन्हीं का उद्धरण करने के लिए विवश होना पड़ रहा है। बालकों में छोटे-बड़े का भेद नहीं होता और यही कारण है कि एक-दूसरे का जूठा भोजन करने में वे परम आनंदित होते हैं। देखिए, सूर के ये गोपालकृष्ण—वन में कैसा जीवन व्यतीत करते हैं—

"ग्वालन करतें कौर छुँड़ावत !
जूँठो लेत सबन के मुख को अपने मुख लै नावत ॥
षटरस के पकवान धरे सब तामें नहिं रुचि पावत।
हाहा करि-करि माँगि लेत है कहत मोहिं अति भावत ॥
यह महिमा एई पै जानें जाते आप बँधावत।
सूर स्याम सपने नहिं दरशत मुनि जन ध्यान लगावत ॥

इधर कृष्ण का राधा का मिलन तथा उनको अपने साथ खेलने का निमंत्रण बड़ी ही चतुरता से दिखलाया गया है। राधा का अपूर्व सौंदर्य कृष्ण को ही नहीं माता यशोदा को भी आकर्षित करता है और वे उन दोनों की जोड़ी की कामना करती हैं। "यशुमति राधा कुँवर सवाँरति" और "खेलो जाइ स्याम संग राधा" में माता यशोदा की भावना का स्पष्ट चित्रण हो रहा है और उधर "बूझति जननि कहाँ हुती प्यारी !" में राधा की माता भी उसके भाल में तिलक देखकर तथा उससे सब बात जानकर दोनों के हृदयों में रस-सिंधु का बढ़ना जान जाती है। यही बाल्यावस्था का ही प्रेम तो आगे चलकर अमिट बन गया जिसका चित्रण आगे किया जाएगा। यहाँ केवल खेल-खेल ही में श्रीकृष्ण ने राधा का मन मोहित कर

लिया यही बताना अभीष्ट था। राधा को स्वयं खेल में निमंत्रण देने पर भी बालक कृष्ण को अपने खिलौनों की कैसी चिन्ता है और इस दिखावटी चिन्ता से माता यशोदा को कैसा भरमाते हैं, देखिए—

"कहत कान्ह जननी समुझाई।
जहँ-तहँ डारे रहत खिलौना राधा जनि लै जाइ चुराई॥"

इसलिए न तुम बलदाऊ को पतिआना और न राधा को मेरी मुरली बताना, क्योंकि उसी में मेरे प्रान रहते हैं। कृष्ण की यह बात सुनकर माता यशोदा को कहना ही पड़ा—

'मेरे लाल के प्राण खिलौना ऐसो को लैजहै री।
नेक सुनन जो पैहों ताको सो कैसे ब्रज रैहै री॥"

और अब कृष्ण जब गाय चराने वन में जाने लगे तब गोपियों को देखने को कम मिलने लगे, अतः 'हरि जू को ग्वालिन भोजन ल्याई' आदि पद द्वारा सूर ने गोपियों को छाक ले जाने के बहाने गोपियों का कृष्ण के दर्शन करने की लालसा का दिग्दर्शन कराया है। इधर वन मे बालकों की क्रीड़ा भी अत्यन्त ही अनुपम बन पड़ी है। श्रीकृष्ण बड़े घर के लड़के हैं इससे सखाओं पर 'रौब' गाँठ लेंगे यह सूर ऐसे महाकवि से संभव नहीं हो सकता, अतः स्याम के खेल-खेल में खिसिया जाने पर तथा 'दाँव' न देने पर सखा स्पष्ट कह देते हैं कि तुम से जो खेल मे 'रूठि' करते हो, कौन खेले। तुम हम पर इतनी शान क्यों बघारते हो? "अति अधिकार जनावत यातें कछु अधिक तुम्हारे हैं गैयाँ" में बाल-भावना स्पष्ट ही है कि यदि तुम अपने घर के बड़े हो तो हम अपने घर के बड़े हैं! और अंत मे हार मानकर कृष्ण को उनके साथ खेलने के लिए स्वयं ही हा-हा खानी पड़ती है। ऐसे महान् प्रभु की ऐसी क्रीड़ामयी समता सूर के बिना और कौन बता सकता था।

इधर कृष्ण की बाल-लीलायें चल रही थीं और उधर कंस के द्वारा भेजे हुए राक्षस कृष्ण-वध की चालें सोचा करते थे। ब्रज में महान् आपत्तियाँ आती हैं; पर कृष्ण सब पर पार पा जाते हैं। सूरदासजी को श्रीकृष्ण की महानता दिखलाना प्रारम्भ से ही अभीष्ट है। अतः कालियदमन, ज्वालानल-पान, पूतना-वध, अन्य राक्षसों का विनाश आदि अनेक चलताऊ प्रसंगों में कृष्ण-शक्ति का दिग्दर्शन कराते हुए भी कृष्ण-छवि को जो पुष्ट संप्रदाय का प्राण है, कहीं नहीं भूले और इसी कारण विकट-से-विकट कार्य करने के उपरांत भी श्रीकृष्ण ब्रज में वैसे ही बालक बने रहे और आपत्ति टल जाने पर गोप, गोपियाँ, नंद, यशोदा सभी उन्हें पहले-जैसा माखन-चोर कृष्ण ही समझते रहे जो सदा धेनु चराने, मुरली बजाने के कार्य में लगे हुए गोदोहन की क्रिया में संलग्न दिखाई देते हैं। माता यशोदा का वात्सल्य तो पग-पग पर प्रदर्शित हो ही रहा है। छोटी अवस्था में जिस माता ने घुटनों के बल चलने की जिसकी कामना की थी, उसे बड़ा होने पर भी वह अपनी गोद का छोटा शिशु समझे, यही तो माता की स्वाभाविकता है, और इसी का तथ्यपूर्ण चित्रण महात्मा सूरदास ने अनोखे, पर सरल ढंग से किया है।

शृंगार—श्रीकृष्ण के बाल-सौंदर्य का चित्रण जितनी अनुपमता व सरसता से सूर ने किया है, उतनी तल्लीनता से उनके शृंगार-जन्य सौंदर्य का दिग्दर्शन भी उन्होंने कराया है। बाल-सुलभ सौंदर्य से यौवन आने पर जिस श्री की नैसर्गिक वृद्धि हो जाती है, वह बड़ी ही अद्भुत है—

"नंद-नंदन मुख देख्यो माई।
अंग छवि मनहु उदै रवि, ससि अरु समर लजाई॥

खंजन मीन कुरंग भृंग वारिज पर अति रुचि पाई।
श्रुतिमंडल कुण्डल विवि मकर सुविलसत मदन सदाई॥
कंठ कपोत कीर विद्रुम पर दारिम कननि चुनाई।
दुइ सारंग वाहन पर मुरली आई देत दोहाई।
मोहे थिर चर विटप विहंगम व्योम विमान थकाई।
कुसुमञ्जलि बरषत सुर ऊपर सूरदास बलि जाई॥

ऐसे उनके अनुपम सौंदर्य को देखकर ब्रज-बाला विथकित हो जाती हैं। उनके विशाल लोचन, कटि तट पर पीत वसन, अनूप रोमावली आदि की शोभा ब्रज-नारियों को विवशकर देती हैं। कृष्ण के प्रत्येक अंग का सौंदर्य सूर द्वारा दर्शाया गया है। श्रीकृष्ण के सुन्दर मुख की बलि होने को गोपियाँ सदा तैयार रहती हैं। एक तो वैसे ही कृष्ण परम सुन्दर हैं और स्वाभाविक सौंदर्य पर प्रत्येक प्राणी का मन आकर्षित होना ही है, फिर कृष्ण के नेत्र-संकेत तो बरबस ही हमारा हृदय हर लेते हैं–

"अंग-अंग प्रति अमित माधुरी प्रगटित रस रुचि ठाउँ-ठाउँ।
× × ×
नैन-सैन हँसि जब हेरत सापर हौं बिन मोल बिकाउँ।"

इधर अतुल सौंदर्यशाली कृष्ण ने मुरली धारण की। मोर-मुकुट ही उनकी ओर आकर्षित करने को पर्याप्त था; पर मुरली की ध्वनि ने तो हृदय को पूर्ण रूप से वश में कर लिया। मुरली भी कृष्ण के हाथ में जाकर शोभा को प्राप्त हो जाती है—

"श्याम कर मुरली अतिहि विराजत।
परसत अधर सुधारस प्रगटत मधुर-मधुर सुर बाजत॥
लटकत मुकुट भौंह छवि मटकत नैन सैन अति छाजत।
ग्रीव नवाइ अटकि बंसी पर कोटि मदन छवि लाजत॥

लोल कपोल झलक कुण्डल की यह उपमा कछु लागत।
मानहुँ मकर सुधारस क्रीड़त आप-आप अनुरागत॥
वृन्दावन विहरत नंद-नंदन ग्वाल सखा संग सोहत।
सूरदास प्रभु की छवि निरखत सुर-नर-मुनि सब मोहत॥"

इस पद में जिस सरसता व सरलता से श्रीकृष्ण के वंशी बजाते समय उनकी गतियों का चित्रण किया गया है, उसका ध्यान करने से ऐसा लगता है मानों सूर ने स्वयं ही कई आँखों से उन्हें वंशी बजाते देखा हो — ऐसे अनेक पद हैं जिनसे बरबस यह कहना पड़ता है कि सूर को अद्भुत ज्योति मिली थी। ऐसे कृष्ण के अनुपम रूप पर तथा उनकी मुरली की धुन सुन-सुन कर गोपियों व राधा का प्रेमाभिभूत होना स्वाभाविक ही था। अतः मन-ही-मन वे सब प्रार्थना करती हैं कि कृष्ण ही हमारे पति बनें—

"गौरीपति पूजति ब्रज-नारि।
इहै कहति पति देहु उमापति गिरिधर नंदकुमार।"

इधर मन ही मन वे कृष्ण का वरण करने लगीं और उधर प्रकट रूप में गोपियाँ यशुमति के घर जाकर कहने लगीं—

"हम अस्नान करत जल भीतर आपुन मींजत पीठि कन्हाई।
कहा भयो जो नंदमहर सुत हमसों करत अधिक ढीठाई॥"

पर उलाहना देते-देते भी वे प्रेमपाश में, और अधिक जकड़ जाती हैं—

"प्रेम विवस सब ग्वाल भईं।
उरहन दैन चलीं यशुमति के मनमोहन के रूप रईं॥"

कृष्ण को पति-भावना में मानने वाली गोपियों का चीर-हरण भी प्रेमाभिव्यंजक घटना ही मानना चाहिए। इसके

उपरांत श्याम का पनघट पर छेड़-छाड़ करने का व्यवहार भी बड़ी सुघड़ता से दर्शाया गया है—

"पनघट रोके रहत कन्हाई।
यमुना जल कोई भरन न पावत देखत ही फिर जाई।।"

और जब देर तक कोई गोपी नहीं आई, तब ग्वालों को एकाध स्थान पर छिपाकर स्वयं छिपकर बैठ गए और उन्होंने—

"युवति एक आवति देखी श्याम।

× × × ×

घर को चली जाइ ता पीछे सिरतें घट ढरकायो।"

और तब

"चतुरग्वालि कर गह्यो श्याम को कनक लकुटिया पाई।
औरनि सों करि रहे अचगरी मोसों लगत कन्हाई।।"

और इस चतुर गोपी ने ललकार कर कहा—

"लकुट कर की हौ तब दैहौ घट मेरो जब भरि दैहौ।"

और कृष्ण को उसकी आज्ञा का पालन करना ही पड़ा—

"घट भर दियो श्याम उठाइ।"

इधर—

"व्रज घर-घर यह बात चलावत।
यशुमति को सुत करत अचगरी यमुना जल कोई भरन न पावत।।"

आदि बातें यशोदा के कान में पड़ती ही रहती हैं; तब वे कृष्ण को डाँटने मारने को तैयार होती हैं— यह देखकर कृष्ण कहते हैं—

तू मोही को मारन जानति।
उनके चरित कहा कोउ जानें उनहि कही तू मानति।
कदम तीर ते मोहि बुलायो गढ़ि-गढ़ि बातें बानति।।
मटकत गिरी गागरी सिरते अब ऐसी बुधि ठानति।

फिर चितई तू कहाँ गयो कहि मैं नहिं गोरी जानति ।
सूर सुनहि देखत ही रिस गई मुख चूमति उर आनति ॥"
और अपने पुत्र की इतनी चतुरता-पूर्ण बात सुन लेने पर यशों अपने पुत्र पर विश्वास कर कह उठती हैं—

"झूठहि सुनहि लगावति गोरि ।
मैं जानति उनके ढंग नीके यातैं मिलवति जोरि ॥"

तथा

"मोहन बाल गोविन्दा माई मेरो कहा जानै चोरि ।
उरहन लै युवती सब आयति झूंठी बनियाँ जोरि ॥"

इस प्रकार अपने माता को आश्वस्त कर श्रीकृष्ण अपने सखाओं के साथ पनघट के मार्ग पर जाकर छेड़-छाड़ करना बंद नहीं करते। बेचारी गोपियाँ जिधर देखती हैं, उधर ही नंद-कुमार की छटा दिखाई देती है—

"जित देखौं तित दीखे री रसिया नंदकुमार री ।"

इस प्रकार गोपियाँ कृष्ण के मोहित करने वाले स्वरूप पर उलझती ही चली जाती हैं। इधर इन्द्र-पूजा का आयोजन होता है और कृष्ण अपने पिता से इन्द्र की पूजा रोककर गोवर्धन की पूजा करवाते हैं। इन्द्र कुपित होकर अपना बल प्रदर्शन करते हैं। प्रलय प्रवर्तक मेघ छा जाते हैं। व्रज के लोग 'विततानै' फिरने लगते हैं और तब "बाम कर जु टेक्यो व्रज-राज" कृष्ण गोवर्धन पर्वत उठा लेते हैं। इस गोवर्धन पर्वत धारण में सूर ने कृष्ण की शक्ति का महत्व तो बतलाया ही है, पर यह वह शक्ति है जो मोहक सौन्दर्य से समन्वित है। गोपियों का मन—जो अभी तक श्रीकृष्ण के सौन्दर्य—केवल शारीरिक छवि—पर मोहित हो रहा था—उनको अतुल शक्ति-सम्पन्न देख-कर और भी अधिक वेग से उनकी ओर आकर्षित हुआ होगा

और उन्हें विश्वास भी हो गया होगा कि मेरे प्रिय केवल छबीले रसिया ही नहीं, शक्ति के भंडार भी हैं; जो प्रत्येक संकट से हमारी रक्षा कर सकते हैं और अब कृष्ण सुदामा, श्रीदामा आदि सखाओं की सहायता से दान-लीला प्रारम्भ कर देते हैं, और जब—

"दधि बेचन चलीं ब्रज नारि।"

तथा

"हरि देखी युवति आवति जब।"

तब उन्होंने संकेत किया—

"ग्वालनि सैन दियो तब स्याम।

× × × ×

"वृन्द-वृन्द सब परे धरणि में घेर लई ब्रज-बाम।"

और उनसे कहा—

"ग्वारिन यह भली नहीं करनि।
दूध-दधि-घृत नितहि बेचनि देन देते डरनि॥"

और

"कान्ह कहत दधि दान न दैहो।
लैहौ छीन दूध-दधि-माखन देखत ही तुम रैहौ॥"

और यह विचित्र बात सुनकर "यह सुन हँसी सकल ब्रजनारी।" गोपियाँ हँसती हुई "बात कहति ग्वालिन इतरानि" इतराने लगीं तथा उनकी काली कमरी पर हँसी करती हुई कहने लगीं—

"तुम कमरी के ओढ़नहारे पीताम्बर नहिं छाजत।
सूरदास कारे तनु ऊपर कारी कमरी भ्राजत॥"

इस पर कृष्ण अपना परमत्व होने का ज्ञान छाँटने लगे—"यह कमरी कमरी कर जानति!" और "को माता को पिता हमारे" तब गोपियों को कहना ही पड़ा—

"तुमको नंद महर भरमाए।
माता गर्भ नहीं तुम उपजे तौ कहौ कहाँ ते आए!"

और फिर गोपियों ने कृष्ण से कहा यह दान देने-लेने का
टंटा क्या खड़ा किया है, सच बताओ—

"काहे को हरि हमसों लागत ।
यातहि कछू खोल रस नाँही को जाने कहा माँगत।"

और इस बतकही में ही गोपियों का मन कृष्ण ने हर लिया

"को जाने हरि चरित तुम्हारे ।
जब हूँ दान नहीं तुम पायो मन हरि लिये हमारे ॥"

और यह कहकर उन्होंने अपने दधि-माखन से कृष्ण स
सभी सखाओं को तृप्त कर दिया और सूर को कहना पड़ा—

"धन्य दधि धन्य माखन धन्य गोपिका
धन्य राधा वश्य है मुरारी ।
सूर प्रभु के चरित देखि सुरगन थकित
कृष्ण संग सुख करति घोषनारी ॥"

और इधर कृष्ण

"राधा सों माखन हरि मागत ।
औरनि की मटुकी को खायो तुम्हरो कैसो लागत ।
ले आई वृषभानुसुता हँसि सदलोनी है मेरो ।
लै दीन्हों अपने कर हरिमुख खात अल्प हँसि हेरो ॥
सबहिन ते मीठो दधि है यह मधुरे कह्यो सुनाइ ।
सूरदास प्रभु सुख उपजायो ब्रज-ललना मनभाइ ॥"

श्रीकृष्ण यदि

"गोपिन हेतु माखन खात ।
प्रेम के बस नन्द नन्दन नेक नहीं अघात ॥"

प्रेम विवश होकर माखन लीलाकर रहे हैं तो गोपियाँ—

"गोपी कहति धन्य हम नारि ।
धन्य दूध धनि दधि धनि माखन हम परुसत जेवत गिरधा

अपने को कृष्णाभिमुख करती हुई, अपने को परम धन्य

ते हैं। इस दान-लीला लीला ही में गोपियों के मन में नायन ही कृष्ण के प्रति उत्कट प्रेम-भावना उत्पन्न कर देती। वे अपने मन में 'कुछ' अनुभव करने लगती हैं और कृष्ण पूछती हैं—

"नन्दकुमार कहा यह कीन्हों।
बूझति तुमहिं कहौ धौं हमसों दान लियो की मन हरि लीन्हों॥

× × ×

तुम जानौं अन्तर नहिं राखै सो क्यों अन्तर राखे।
सूर स्याम तुम अन्तर्यामी वेद उपनिषद भाखे।"

गोपियों का कथन है कि हमने तुमसे कोई दुराव नहीं किया। तुमने जो माँगा सो दिया, फिर तुम हमसे दूर-दूर क्यों रहते हो। इस पर श्रीकृष्ण को उन्हें समझाना पड़ा—

"सुनहु बात युवती इक मोरी।
तुमते दूरि होत नहिं कबहुँ तुम राखौ मोहिं घेरी॥
तुम कारण बैकुण्ठ तजत हौं जनम लेत ब्रज आई।
वृन्दावन राधा संग गोपी यह नहिं बिसरयो जाई॥

× × ×

अब घर जाहु दान मैं पायो लेखो कियो न जाइ।
सूर स्याम हँसि-हँसि युवतिन सों ऐसी कहत बनाइ॥"

और इस प्रकार दान-लीला में गोपियाँ अपना मन देकर घर चली जाती हैं।

"मन हरि सों तनु घरहि चलावति।"

बाल्यावस्था का प्रेम अब यौवनावस्था में पदार्पण कर रहा है। यह वह प्रेम है जो फिर चैन से बैठना नहीं जानता और

जो छिपाये भी नहीं छिपता, पर जो बताये भी नहीं ब
जाता। गोपियाँ घर तो आगईं पर—

"युवति गईं घर नेक न भावत।
मात-पिता गुरुजन पूछत कछु औरे और बतावत॥
× × ×
बचन कहति हरिही के गुन को उतही चरण चलावैं।
सूर श्याम बिन और न भावै कोउ कितनो समुझावै॥"

और फिर इस प्रेम में घर की मर्यादा तथा अन्य बंध
तोड़ना पड़ा—

"लोक सकुच कुल कानि तजी।
जैसे नदी सिंधु को धावै तैसे श्याम भजी॥"

इधर गोपियों को उनकी मातायें बार-बार समझा रही हैं—

"बार-बार जननी समझावति।
काहे को तुम जहँ-तहँ डोलति हमको अतिहि लजावति।"

पर बेचारी गोपियाँ क्या करें! उनका मन घर पर लगता
नहीं!

"नेक नहीं घर मो मन लागत।
पिता-मात-गुरुजन परबोधत नीके बचन बाण सम लागत।"

और प्रेमाधिक्य से बावलापन आने लगा। लोक-लाज
चिन्ता तो प्रेम में सर्वप्रथम छूट ही गई, अब अपनी वस्तु
भी सुधि नहीं कि वे क्या लिए जा रही हैं और क्या बेच र
हैं। उन्हें तो बस गोपाल नाम ही याद रह गया—

"गोरस को निज नाम भुलायो।
लेहु-लेहु कोउ गोपालहिं गलिन-गलिन यह शोर मचायो

और

"कोऊ माई लैहै री गोपालहि।
दधि को नाम श्यामसुन्दर रस बिसरि गई ब्रज बालहि।"

इस प्रकार गोपियों ने हरि सों अपना मन जोरकर और सभी से तोर लिया। गोपियों के इस प्रेम की अनन्यता का किंचित् दिग्दर्शन हुआ। अब राधा के अद्वितीय प्रेम की झाँकी देखिए।

कृष्ण-प्रेम-पाश मे उलझकर राधा भी घर नहीं रहतीं और राधा की माता एक दिन उसे डाँटकर कहती ही हैं—

"काहे को पर घर छिन-छिन जाति।
गृह मे डाटि देति सिख जननी नाहिन नेक डराति।
राधा कान्ह कान्ह राधा ब्रज ह्वै रह्यो अतिहि लजाति॥
अब गोकुल को जैवो छाँड़ो अपयशहु न अघाति।
तू वृषभानु बड़े की बेटी उनके जाति न पाँति।
सूर सुता समुझावति जननी सकुचत नहिं मुसकाति॥"

और माता की इस डाँट पर भी राधा मुसकराती रहती हैं—प्रेम मे छोटा-बड़ा क्या ? और जाति-पाँति—उसका तो स्वप्न में भी विचार नहीं रह सकता ! ऐसी माता जो कृष्ण से प्रेम करने को रोकती हो तो उसके बिना ही काम चल सकता है—प्रेम में क्या-क्या नहीं छोड़ा जा सकता ! राधा के मुख से ही इस डाँट का उत्तर सुनिए—

"खेलन को मैं जाउँ नहीं।
और लरिकनी घर-घर खेलति मोही को पै कहति तुही॥
उनके मात-पिता नहिं कोई खेलति डोलति जही तही।
तोसी महतारी वहि जाई मैं रैहों तुमही बिनही॥
कबहूँ मोको कछू लगावति कबहूँ कहति जिन जाहु कहीं।
सूरदास बातैं अनखोही नाहि न मोपै जात सही॥"

और इसीलिए राधा की माँ को भी (यशोदा के समान) कहना ही पड़ा—

"मन ही मन रीझति महतारी !
कहा भई जो बाढ़ि तनक गई अब ही तो मेरी है बारी ॥
झूठे ही यह बात उठी है राधा कान्ह कहत नर-नारी ॥"

पर राधा को कृष्ण के साथ खेलने को उन्होंने आज्ञा नहीं दी। इस पर बेचारी राधा ने मन-ही-मन कृष्ण का ध्यान किया और कृष्ण के रंग मे रँग गई। उनका यह स्वरूप देखकर राधा की माँ आश्चर्यचकित होगई—

"जननी निरखि रही ता छवि को कहन चहै कुछ कहि नहिं आवै।
चकृत भई अंग-अंग विलोकत दुख-सुख दोऊ मन उपजावै ॥"

फिर सखियन संग जल बिहार करते समय राधा को कृष्ण के दर्शन हो गये और वे उन्हें देखकर सुध-बुध खो बैठीं—

"राधे निरखि भूली अंग।
नंद-नंदन रूप पर गति-मति-भई तनु पंग।"

और फिर घर लौटने पर तो बार-बार उन्हीं की छवि याद आने लगी। उनका मनरूपी मधुकर कृष्ण के पद-कमल पर लुभा गया। बेचारी सखियाँ जब बार-बार उनसे उनकी स्थिति पूछती हैं तब बरबस राधा को कहना ही पड़ता है—

"सुनरी सखी दशा यह मेरी।
जबते मिले श्याम घन सुन्दर संगहि फिरति भई जनु चेरी ॥"

कृष्ण के प्रेम में इतनी अनुरक्ति देखकर सूर को कहना ही पड़ा -

"धन्य धन्य बड़ भागिनि राधा।
[illegible] भजी नंद-नंदन को मेटि नयन जन बाधा ॥"

और इसीलिए राधा की माँ को भी (यशोदा के समान) कहना ही पड़ा—

"मन ही मन रीझति महतारी!
कहा भई जो बाढ़ि तनक गई अब ही तो मेरी है बारी॥
झूठे ही यह बात उड़ी है राधा कान्ह कहत नर-नारी॥"

पर राधा को कृष्ण के साथ खेलने की उन्होंने आज्ञा नहीं दी। इस पर बेचारी राधा ने मन-ही-मन कृष्ण का ध्यान किया और कृष्ण के रंग में रंग गई। उनकी यह दशा देखकर राधा की माँ आश्चर्यचकित होगई—

"उनकी निरखि रही ता छबि को कहत नहिं कछु कहि नहिं आवै।
पलकन भई अंग-अंग विलोकत दुख-सुख दोऊ मन उपजावै॥"

फिर सखियन संग जल विहार करते समय राधा को कृष्ण के दर्शन हो गये और वे उन्हें देखकर सुध-बुध खो बैठीं—

"राधे निरखि भूली अंग।
नंद-नंदन रूप पर गति-मति-भई तनु पंग।"

और फिर घर लौटने पर तो बार-बार उन्हीं की छवि याद आने लगी। उनका मनरूपी मधुकर कृष्ण के पद-कमल पर लुभा गया। बेचारी सखियाँ जब बार-बार उनसे उनकी स्थिति पूछती हैं तब बरबस राधा को कहना ही पड़ता है—

"सुनरी सखी दशा यह मेरी।
जबते मिले स्याम घन सुन्दर संगहि फिरति भई जनु चेरी॥"

कृष्ण के प्रेम में इतनी अनुरक्ति देखकर सूर को कहना ही पड़ा—

"धन्य धन्य बड़ भागिनि राधा।
नीके भजी नंद-नंदन को मेटि नयन जन बाधा॥"

और इसीलिए राधा की माँ को भी (यशोदा के समान) कहना ही पड़ा—

"मन ही मन रीझति महतारी !
कहा भई जो बाढ़ि तनक गई अब ही तो मेरी है बारी ॥
झूठे ही यह बात उठी है राधा कान्ह कहत नर-नारी ॥"

पर राधा को कृष्ण के साथ खेलने को उन्होंने आज्ञा नहीं दी। इस पर बेचारी राधा ने मन-ही-मन कृष्ण का ध्यान किया और कृष्ण के रंग में रँग गई। उनका यह स्वरूप देखकर राधा की माँ आश्चर्यचकित होगईं—

"जननी निरखि रही ता छवि को कहन चहैं कुछ कहि नहिं आवै।
चकृत भई अंग-अंग विलोकत दुख-सुख दोउ मन उपजावै ॥"

फिर सखियन संग जल बिहार करते समय राधा को कृष्ण के दर्शन हो गये और वे उन्हें देखकर सुध-बुध खो बैठीं—

"राधे निरखि भूली अंग।
नंद-नंदन रूप पर गति-मति-भई तनु पंग।"

और फिर घर लौटने पर तो बार-बार उन्हीं की छवि याद आने लगी। उनका मनरूपी मधुकर कृष्ण के पद-कमल पर लुभा गया। बेचारी सखियाँ जब बार-बार उनसे उनकी स्थिति पूछती हैं तब बरबस राधा को कहना ही पड़ता है—

"सुनरी सखी दशा यह मेरी।
जबते मिले श्याम घन सुन्दर संगहि फिरति भई जनु चेरी ॥"

कृष्ण के प्रेम में इतनी अनुरक्ति देखकर सूर को कहना ही पड़ा—

"धन्य धन्य यह भागिनि राधा।
[illegible] को मेटि नयन जन बाधा ॥"

और इस प्रकार राधा तथा अन्य गोपियों का कृष्ण के प्रति प्रेम बढ़ता रहा। कभी-कभी कृष्ण के अचानक दर्शन से प्रेम में और अधिक वेग आने लगता था। कृष्ण सदा सबकी आँखों में बसते हुए से रहने लगे—

"आँखिन में बसै जियरे में बसै हियरे में बसै निशिदिन प्यारो।
मन में बसै तन मे बसै रसना में बसै अंग-अंग में बसत नंदवारो।"

और यह प्रेम एक पक्षीय ही नहीं है। राधा के इस उत्कट प्रेम के कृष्णजी वशीभूत होगए—

"श्याम भये वृषभानु सुता बस और नहीं कुछ भावै हो।"

और राधा के बिना उनकी अकुलाहट बढ़ने लगी—

"कबहूँ श्याम यमुन-तट जात।
कबहूँ कदम चढ़त मग देखत राधा बिन अति अकुलात।"

राधा-कृष्ण दोनों एक रंग होगए। "राधा श्याम श्याम राधा रंग" अतः दोनों को एक-दूसरे का विरह व्याकुल करने लगता था। इधर अन्य गोपियाँ भी राधा से उनके विरह में सहानुभूति रखतीं हुईं कृष्ण-विरह से भरकर अपनी दशा का वर्णन करने लगीं। "हमरी सुरति बिसारी बनवारी हम सरवस दै-दै हारी।" फिर ललिता प्रयत्नकर कृष्ण को राधा से मिला देती है और राधा का रूप बार-बार देखने पर भी कृष्ण को तृप्ति नहीं होती। इस प्रकार परस्पर मिलन व विरह के झोंकों में झूमता हुआ गोपियों, राधा व कृष्ण का जीवन-प्रवाह प्रवाहित होने लगा। गोपियों के प्रेम की उत्कटता का भान कर भगवान् कृष्ण ने अब उनकी प्रसन्नता के लिए अनेक रास-लीलाओं द्वारा उनकी मनोकामनायें पूर्ण कीं। रासलीला का अद्भुत वर्णन भागवत मे आया है और सूरदास ने भी उसके आधार पर सुललित चित्रण किया है।

और ऊपरी मन से उन्हें घर जाने का आदेश दिया। कृष्ण-प्रेम मे पगी और यौवनोन्माद से उन्मादिनी गोपियों ने स्पष्ट कह दिया—"भवन नहीं अब जाहि कन्हाई।" गोपियों ने कहा—"तुमहिं विमुख धृग धृग नर-नारी।' और फिर कृष्ण को त्वरना कपटवेश उतारकर स्वीकार करना पड़ा

"धन्य-धन्य दृढ़ नेम तुम्हारो बिन दामन मो हाथ बिकानी।"

और उनके तप का फल देने के लिए कहा—

"कियो जेहि काज तप घोष नारी।
देउँ फल हौं तुरत लेहु तुम अब घरी हरष चित करहु दुख देहु डारी।"

और यह फल "रास रस रच्यौ मिलि संग" से दिया गया। सूरदासजी ने हाव-भाव, नैन-सैन आदि द्वारा [illegible] से नृत्य करती हुई गोपियों का सुन्दर वर्णन किया है और वहीं राधा व कृष्ण के सुन्दर नृत्य "नृत्यत है दोउ स्याम स्यामा" का चित्रण करते हुए राधा-कृष्ण के गांधर्व विवाह का बड़ा ही मनोरम चित्र खींचा है। इस विवाह में 'गोपी' जन सब नेवते आई हैं और कुञ्ज मंडप पुलिन में वेदी रचकर भाँवरें डाली गई हैं। मन्मथ वेद पढ़ाते बने हैं। [illegible] ललन गिरिधर नवल दुलहे, दुलहिन श्रीराधा बनी है। देवता दुंदुभी बजा रहे हैं। इधर अनेक रास लीलाओं के सार रहने से राधा को अभिमान हो जाता है और श्रीकृष्ण छिप गए।

"तब हरि भये अंतर्धान" और इधर उन्हें न पाकर गोपियाँ व्याकुल हो गई और [illegible] हैं, तब [illegible] "[illegible]" [illegible]

मोहित होकर "अंतर ते हरि प्रगट भये" श्रीकृष्ण प्रकट हो गए और सब से मिलकर उनका दुःख दूर कर दिया, फिर जल-विहार का तथा गोपियों से प्रेम करते देख राधा के मान व कृष्ण के मनावन का भी अद्भुत चित्रण सूर द्वारा हुआ है जो देखते ही बनता है। विस्तार-भय से उनके उद्धरण का लोभ विवश होकर संवरण करना पड़ता है। राधा के मान करने पर "बहुरि नागरी मान कियो।" कृष्ण "दूती दई स्याम पठाय" दूती भेजते हैं, पर जब उससे कार्य सफल नहीं होता, तब उनके द्वार पर स्वयं धरना देकर बैठ जाते हैं। "अब द्वारे ते टरत न श्याम" आदि शब्दों द्वारा दूती से राधिका को मनाने व स्वयं जाने का प्रयत्न करते हैं। राधा का मान तो इतना अधिक बढ़ गया है कि "प्रिया पिय नाहिं मनायो मानै" पर चतुर नागर श्याम उन्हें मनाकर ही छोड़ते हैं और राधा "चली बन मान मनायो मानि। इस प्रकार इस मान-लीला का अन्त व रास-लीला का प्रारंभ चलता ही रहता है। फिर यमुना पुलिन पर सुरंग हिंडोले की लीला भी होती है और कृष्ण का विहार जड़-चेतन सभी को मुग्ध करता रहता है।

"विहरत कुंजन कुञ्जविहारी।
खग शुक विहँग पवन थकि थिर रह्यो तान अलापत जब गिरधारी।"

बन में छबीले की मुरली-ध्वनि बजती रहती है और ग्वाल-बाल सभी मोहित-से रहते हैं। उनका नटवर भेष भी अत्यधिक आकर्षक है। बीच-बीच में केशी, भौमासुर आदि का वध दिखाकर कृष्ण के प्रति प्रगाढ़ प्रेम की परिपक्वता के लिए सूर ने साधन उपस्थित किया है। वसंतोत्सव व होलिकोत्सव आदि का विशद वर्णन सूर की लेखनी से यहाँ प्रस्फुटित हुआ है। इस प्रकार सूर ने स्वाभाविक प्रेम का बड़ा ही मनोरम [illegible] खींचा है। जिन कृष्ण के साथ गोपियों व ग्वाल-

बालाओं का यह स्वाभाविक प्रेम प्रारंभ से चला और यौवनावस्था में चलकर परिपक्व हुआ तथा जिनके साथ उनके जीवन के परम सुन्दर दिन व्यतीत हुए, उन्हीं कृष्ण का वियोग भी उन्हें भोगना होगा—यह किसने सोचा था ! पर कहते हैं प्रेम की उत्कटता व उत्कृष्टता तो तभी आँकी जाती है, जब विप्रलंभ में पड़कर प्रेमी अपने को पूर्णतया तपा देता है और सोने के समान खरा निकल आता है। इस वियोगाग्नि में कल्मष धुल जाता है। सूर ने जिस उठान के साथ यह संयोग-शृंगार का वर्णन किया है उससे भी सुन्दर उठान से वियोग-शृङ्गार का चित्रण भी किया है।

सूर द्वारा वर्णित विप्रलंभ शृङ्गार को नंद-यशोदा व अन्य ग्वाल-बाल तथा राधा व गोपियों के विरह-वर्णन—इन दो स्वरूपों में बाँट सकते हैं। आइये, पहले नंद-यशोदा के विरह-वर्णन पर दृष्टिपात करें। कृष्ण-ब्रज-गमन जानकर जो दुःख नंद-यशोदा व गोपालों को हुआ, वह तो प्रिय के आकस्मिक प्रयाण का दुःख है। वास्तविक वियोग-दुःख तो नंद के कृष्ण रहित ब्रज लौटने पर ही समझना चाहिए और यही स्थिति गोपियों की भी जाननी चाहिए। आगे आने वाले वियोग—दुःख की भूमिका—प्रियगमन के समय कहे हुए अनेक पदों में सूर ने बड़ी सुन्दरता से बाँधी है। "रही जहाँ सो तहाँ सब ठाढ़ी" और "चलतहु फेरि न चितये लाल" आदि पदों से इसका महत्त्व समझा जा सकता है। कृष्ण के चले जाने पर यशोदा को घर सूना लगने लगता है। वे व्याकुल होकर कहने लगती हैं—

"हो कोई ऐसी भाँति दिखावै।
किंकिणि शब्द चलत ध्वनि रुनझुन ठुमुक-ठुमुक गृह आवे।"

पर जब ऐसा हृदय उन्हें नहीं मिलता तब उन्हें आशंका होने लगती है—

"मना हौं ऐसे ही मरि जैहौं।
इहिं आँगन गोपाल लाल को कबहुँ कनियाँ लैहौं।"

और वे अनायास प्रतिज्ञा कर बैठती हैं—

"जो न सूर कान्ह आइ हैं तो जाइ जमुन धँसि लैहौं।"

इधर यशोदा कृष्ण के आगमन की प्रतीक्षा में दिन गिन रही हैं और उधर कंस-लीला समाप्ति के बाद नंद से गोकुल जाने के लिए विवशता प्रकट करते हैं। बेचारे नन्द हक्के-बक्के रह जाते हैं; "निठुर बचन जिनि कहौ कन्हाई" और पहले तो नंद यह कह देते हैं "मेरे मोहन तुमहिं बिना नहिं जैहौं" पर कृष्ण के बार-बार कहने पर "होहु बिदा घर जाहु गुसाईं माने रहिए नात" बेचारे नंद "धक धकाय मन बहुत सूर उठि चले नंद पछतात" विवश होकर ब्रज को चल दिए। इधर यशोदा "बार-बार मग जोवति माता" (मिलाइये तुलसी की पंक्ति "बैठी सगुन मनावति माता") प्रतीक्षा कर रही हैं और नंद को अकेला आते देखकर कृष्ण प्रेम की पागल माता, अपने पति को कड़वे से कड़वे वचन कहने को बाध्य हो उठती है—

"उलटि पग कैसे दीन्हों नंद।"
कै तुम धन यौवन मदमाते कै तुम छूटे बंद।

यही नहीं—

"यशोदा कान्ह-कान्ह कै बूझै।
फूटि न गईं तिहारी चारों कैसे मारग सूझै।"

आदि पदों से अपने पति की इतनी भर्त्सना करती है कि बेचारे को जब और कुछ नहीं सूझता तब यशोदा में ही दोष लगते हैं।

'तब तू मारिबोई करत।
सनि आगे कहि जो आवत अब लै भाँड़े भरत।"

और इधर ब्रज के अन्य लोग भी "कहो नंद कहाँ छाड़े कुमार" की धुन लगाकर नंद को भौंचक्का बना देते हैं। बेचारे नंद

"चितवत नंद ठगे से ठाढ़े मानो हारयो हेम जुआर"

और ग्वालों के मुख से यह सुनकर कि कृष्ण तो अब मधुपुरी के बड़े राजा हो गये और अब हमें तुच्छ समझकर यहाँ नहीं आएँगे! बेचारी गोपियाँ पहले-पहल कह उठीं—

"तिनहिं न पतीजै री जे कृतहो न मानैं।
ज्यों भँवरा रस चाखि चाहिकै तहाँ जाइ जहाँ नव तन जानैं॥
× × ×
तब तो प्रेम विचार न कीन्हों होत कहा अब के पछिताने।
सूरदास जे मन के खोटे अवसर परे जाहिं पहिचाने॥"

पर बावरी गोपियाँ यह नहीं जानती थीं कि प्रेम विचार कर नहीं किया जाता। प्रेम तो एक ऐसी वस्तु है जो अनायास ही बैठे-ठाले एक दिन हृदय में स्पन्दन उत्पन्न कर देता है और फिर चाह बढ़ने लगती है और उसका परिणाम एक टीस होती है जो मृत्यु पर्यंत तक दिल को बेधा करती है। अस्तु, गोपियों ने प्रेम में क्या नहीं किया और उन्हें मिला क्या! एक नंदलाल की स्मृति—पर यही स्मृति ही तो प्रेम की सच्ची प्रतीक है और सूर के हाथों पड़कर इसकी चमक अद्वितीय हो उठी है।

यशोदा को इधर एक ही रट लगी है। "लै आवहु गोकुल गोपालहिं" क्योंकि वे नंद से कहती हैं कि मैं तुम्हारे हृदय के लिए क्या कहूँ—

"सराहों तेरो नंद हियो।
मोहन-सों सुत छाँड़ि मधुपुरी गोकुल आनि जियो॥"

पर नंद को कोई उपक्रम करते न देख वे समझती हैं कि नंद को ब्रज का मोह हो गया है, अतः कह उठती हैं—

"नंद ब्रज लीजै ठोंकि बजाय।
देहु विदा मिलि जाहिं मधुपुरी जह गोकुल के राइ॥"

वेचारी माता पंथियों से विनय करती फिरती हैं—

"पंथी इतनी कहियो बात।
तुम बिन यहाँ कुँवर वर मेरे होत निते उतपात।"

और

"कहियो श्याम सों समुझाइ।
वह नातो नहिं मानत मोहन मनो तुम्हारी धाय।"

चौबीसों घंटे माता यशोदा को यही चिंता बनी रहती है, "मेरो कहा करत ह्वै है" और बेचारी माँ अब वस्तुतः धाय भी बनने को तैयार है। वह कहती है—

"संदेशो देवकी सों कहियो।
हौं तो धाय तिहारे सुत की कृपा करति ही रहियो।"

कृष्ण के बिना घर के काम-काज सब बंद-से हैं और जो कुछ जैसा है, सब वैसा ही रखा रहेगा—

"मेरे कुँवर कान्ह बिनि सब कछु वैसोहि धरयो रहै।
को उठि प्रात होत लै माखन को कर नेति गहै।"

अन्य ग्वाल बाल व नंद आदि सभी गोप कृष्ण के विरह में अधिक दुःखी रहे होंगे; पर कदाचित् पुरुष होने के नाते उन्होंने किंचित् गंभीरता धारण की होगी, पर बेचारी गोपियाँ—अबला होने के कारण कृष्ण के विरह में अत्यधिक व्यथित हुईं। कहा जाता है कि संयोग में जो वस्तु सुखद होती है, वियोग में वही दुःखद हो उठती है। अतः अब कृष्ण के बिना—गोपियाँ कहती हैं—

"बिनु गोपाल बैरिनि भईं कुंजैं।
जो वै लता लगत तनु शीतल अब भईं विषम अनल की पुंजैं॥"

गोपियाँ रो-रोकर कुछ कह तो देती हैं, पर राधा—उसकी दशा अत्यंत विषम है। सूर के ही शब्दों में—

"सोचति राधा लिखति नखन में बचन न कहत कंठगत साम।"

उधर पथिकों से कालिंदी के कालेपन होने की व्यथा, परदेशी की प्रीति का रोना आदि निवेदन किया जाता है और कभी-कभी "इहि घिरियाँ बनते ब्रज आवते।" आदि से कृष्ण के स्मरण में दिन काटे जा रहे हैं। रह-रहकर इन वियोगियों की आत्मा पुकार उठती है "फिर ब्रज आइए गोपाल" और "फिर कै बसौ गोकुलनाथ।" कृष्ण-विरह में "अब ये भवन देखि अति मनो धाइ धाइ हमको ब्रज खात" ब्रज खाने को दौड़ रहा है। नींद भी तो नहीं आती जिसमें प्रिय को स्वप्न में ही देख लूँ।

"बहुरयो भूलि न आँख लगी।
सुपनेहू के सुख न सहि सकी नींद जगाइ भगी॥"

इस प्रकार प्रेम-वियोग में संतप्त होकर गोपियों को मानो यह निष्कर्ष निकालना पड़ता है—

"प्रीति करि काहू सुख न लह्यो।
प्रीति पतंग करी दीपक सों आपै प्राण दह्यो॥"

इस प्रकार दिन पर-दिन व्यतीत हो रहे हैं। पावस-ऋतु आजाती है, पर ब्रज से तो वह टरती ही नहीं। ब्रज पर तो कृष्ण के न होने के कारण पावस दल सजकर आता है। मोर बोलने लगते हैं। "यहि बन मोर नहीं ये काम बान" कहीं मोर दुःखी फिरते हैं तो चातक की 'पी कहाँ' गोपियों को जीवितकर देती है—

"सखी री चातक मोहि जियावत" और वे कहती हैं—"चातक न होइ कोउ विरहिनि नारि।" यद्यपि कभी कभी विरहावस्था में उसे फटकारती हैं "हौं तो मोहन के विरह जरी रे तू कत जारत" तो कभी-कभी उसके जीवन की कामना भी करती हैं "बहुत दिन जीवो पपीहा प्यारो।"

और ऊधव हरि-संदेश की पाती देते हैं, पर उस पाती की क्या दशा हुई, सूर के मुख से सुनिये—

"कोऊ ब्रज बाँचत नाँहि न पाती।
कत लिखि-लिखि पठवत नन्द-नन्दन कठिन विरह की काँती।"

तथा

"ऊधो कहा करैं लै पाती।
जब नहिं देख्यो गुपाल लाल को विरह जरावत छाती।"

पर ऊधव अपना सन्देश कहने से नहीं चूकते। वे कहते हैं—

"सुनहु गोपी हरि को संदेश।
करि समाधि अन्तर्गत ध्याहु यह उनको उपदेस॥
वै अविगत अविनासी पूरण सब घट रह्यो समाइ।
निर्गुण ज्ञान बिनु मुक्ति नहीं है वेद पुराणन गाइ॥"

कहना नहीं होगा कि यह संदेशा गोपियों के लिए वज्रपात के समान है। पहले वे साधारणतः ऊधव से इस संदेशे का अर्थ न समझती हुईं शिष्टतापूर्वक उत्तर देती रहती हैं, पर ऊधव अपनी रट लगाए ही जाते हैं, तब विवश होकर उन्हें कुछ कटु शब्द भी कहने पड़ते हैं। पर ऊधव अतिथि हैं और अतिथि का निरादर नहीं करना है। सूर को इसका पूर्ण भान है। इसी बीच में एक भौंरा मँडराकर गोपियों के पास आने लगता है, बस उसी को लक्ष्य कर (मधुप = ऊधव = कृष्ण) वे अपने हृदय के उद्गार उड़ेलने लगती हैं। इसी से भ्रमर-लक्षित पद भ्रमर-गीत नाम से प्रसिद्ध हुए। हाँ, तो ऊधव का अविनाशी-वाला संदेशा सुनकर गोपियाँ कह उठती हैं—

"मधुकर हमहीं क्यों समुझावत।
बारम्बार ज्ञान-गीता ब्रज-अबलनि आगे गावत।"

श्रौर फिर "कौन काज या निर्गुण सों चिरजीवहु कान्ह हमारे" श्रौर फिर ऊधव को हठ करते देख कह उठती हैं "ऊधे होहु श्रागे ते न्यारे" तथा "जाहु जाहु श्रागे तें ऊधो पति रहति हों तेरी" फिर कुछ जब श्रावेग कम हो जाता है, तब ऊधव से कहती हैं "विलग जनि मानो हमारी बात।" इसपर ऊधव को पुनः साहस हो श्राता है श्रौर वे कहने लगते हैं—

"जानि कर बावरी जिन होहु।
तत्त्व भजे ऐसी ह्वै जैहौ ज्यों पारस परसे लोहु॥
मेरो वचन सत्य कर मानहु छाँड़ो सबके मोहु।
जौ लगि सब पानी कीचु परी तौ लगि अस्तु विछोहु॥"

ऊधव की पुनः वही कहानी सुनकर गोपियाँ पहले उन्हें यह बताने का प्रयत्न करती हैं कि अपनी मति की श्रोर किंचित ध्यान देकर उसे सुधार लो। व्रज में तुम्हारी इन बातों से हँसी होने लगी है। वे कहती हैं—

"मधुकर भली सुमति मति खोई।
हाँसी होन लगी है व्रज में योगहि राखहु गोई॥"

फिर योग ऐसी महान् वस्तु को धारण करने में हम अबलाएँ अशक्त हैं, असमर्थ हैं। ऊधव तुम्हारा ज्ञान महान् है श्रौर हम अज्ञानिनी हैं—

"मधुकर हम अयान मति भोरी।
सबतें ऊँचो ज्ञान तुम्हारो हम श्रहीरि मति थोरी॥"

इसके अनन्तर गोपियों का कृष्ण-वियोग से उत्पन्न दुःख के कारण अपनी असमर्थता का चित्रण प्रारम्भ होता है। जब कोई अपनी बात रखे ही जाता है श्रौर जिससे वह बात कही जाती है वह उसे पूर्णतया अनुपयुक्त समझता है, तब सबसे पहले इस बात का प्रयत्न किया जाता है कि कहनेवाले को

उस धात की असंगति बतलाई जाए और इसपर भी यदि वह नहीं मानता तो अपनी असमर्थता या दुर्दशा का चित्रण उसके हृदय में अनुकम्पा उत्पन्न की जाए जिससे उसका चित्त द्रवित हो उठे और उसका ध्यान बँट जाये। गोपियों ने पहले ऊधव को उनके योग सम्बन्धी विचारों की असगति बतलाई और फिर अपने दुख का हाल बताने लगीं। उन्होंने अपनी वास्तविक भूख बतलाई और साथ ही उसके लिये उपयुक्त भोजन भी। उन्होंने कहा--

"अँखियाँ हरि दरशन की भूँखीं।
अब कैसे रहति श्याम रंग राती ए बातें सुनि रूखीं॥"

इन आँखों ने अब तक प्रतीक्षा की और कदाचित् इस प्रकार आशा से भरी हुई और प्रतीक्षा करती ही रहतीं; पर तुमने तो इनकी आशा का तंतु ही तोड़ डाला—इससे ये और अधिक अकुला उठी हैं। यों तो कृष्ण-विरह में सभी अंगों की दुर्दशा है, पर सबसे अधिक दुःख तो इन आँखों को ही है क्योंकि इन्होंने ही तो कृष्ण-रूप की छवि-माधुरी का पान किया है। ये आँखें किसी भी प्रकार शांत न नहीं हो रही हैं। सूर के शब्दों मे देखिए—

"और सकल अंगन तें ऊधो अखियाँ बहुत दुखारी।
अधिक पिराति सिराति न कबहुँ अनेक जतन कर हारी॥
× × ×
अलि आली गुरु-ज्ञान शलाका क्यों सहि सकत तुम्हारी।
सूर सुअंजन आँजि रूप रस आरति हरौ हमारी॥"

इन आँखों के लिए एक ही अंजन है—

"ऊधो इन नैनन अंजन देहु।
आनहु क्यों न श्याम रंग काजर जासों जुरयो सनेहु।"

और आँखों की इतनी दुर्दशा देखकर भी जब ऊधव क
चित द्रवित नहीं होता तब स्वभावतः गोपियों को शंका हो
लगती है कि मधुवन के लोग क्या सभी अविश्वसनीय हैं!
कहने लगती हैं—

"सबै खोटे मधुवन के लोग।
जिनके संग श्यामसुन्दर सखी सीखे सब अपयोग॥"

अथवा,

"मधुवन के लोगन को पतिआइ।
मुख औरे अंतर्गत औरे पतियाँ लिखि पठवत जो बनाइ॥"

और यही नहीं, वहाँ के लोगों की रीति भी निराली ही है—

"माई री मधुवन की यह रीति।
नीरस जानि तजत छिन भीतर नवल कुसुम रस प्रीति॥
तिनहूँ के संगिन को कैसे चित आवति परतीति।
हमहिं छाँड़ि विरमहिं कुबजा सँग आये न रिपु रणजीति॥"

पर ऊधो तो कहते ही चले जाते हैं "ज्ञान बिना कहुँ वै सु
नाँही" और तब बेचारी गोपियों को ऊधव का ध्यान ब्रज-दश
पर आकर्षित करना पड़ता है। कम से-कम ऊधव यहाँ की दश
देख लो, फिर कहो क्या कहते हो—

"ऊधो तुम ब्रज की दशा विचारो।
ता पाछे यह सिद्ध आपनी योग-कथा विस्तारो॥"

और फिर गोपियाँ पूछती हैं "ऊधो हरि काहे के अंतर्यामी
तथा तुम "ह्याँ तुम कहत कौन की बातें" हमसे किसकी बा
और कौन सी कह रहे हो। जिस निर्गुण—निर्गुण की तुमने र
लगा रखी है, उसका क्या रूप है, वह कहाँ रहता है औ
उसके सम्बन्धी कौन हैं? बिना जाने परतीत कैसी और बिना

परतीत के प्रीति कैसी ? कैसे भोले और सहज ढंग से ऊधव से गोपियों का यह स्वाभाविक प्रश्न है—

"निर्गुण कौन देश को वासी।
मधुकर कहि समुझाइ सौंह दै बूझत साँच न हाँसी॥
को है जनक कौन है जननी कौन नारि को दासी।
कैसो बरन भेष है कैसो केहि रस में अभिलाषी॥
पावैगो पुनि कियो आपनो जो रे करैगो गाँसी।
सुनत मौन ह्वै रह्यो बावरो सूर सबै मति नासी॥"

गोपियों की ऐसी बातों का भला ऊधव के पास क्या उत्तर था, अतः क्षण-भर उन्हें मौन होना पड़ा, पर ज्ञान की रटी रटाई बातें अप्रासंगिक होते हुए भी ज्ञानियों द्वारा बोली ही जाती हैं। और ऊधव वही पुरानी रट पुनः लगाते हैं "ज्ञान बिनु नर मुक्ति नाहीं यह विषै संसार" इस पर गोपियाँ फिर ऊधव से कहती हैं भई हमने योग तो पहले ही ले रखा है—

"हम तो तबहीं ते योग लियो।
जबहीं तें मधुकर मधुबन को मोहन गवन कियो॥"

और फिर मन में अब स्थान ही नहीं कि तुम्हारे योग को स्थान दिया जाए। फिर मन तो एक ही होता है और प्रेम में द्वित्व को स्थान कहाँ ?

"ऊधो मन न भये दस बीस।
एक हुतो सो गयो स्याम सँग को अवराधै ईस॥"

इस पर बेचारे ऊधव को फिर कुछ क्षण मौन साधना पड़ा—
"ऊधौ मौन साधि रहे।
योग कहि पछितात मन-मन बहुरि कछु न कहे॥"
और उन्हें स्वयं अपने ऊपर शंका होने लगी तथा वे सोचने लगे कि मुझे स्याम ने यहाँ किस कारण भेजा था—क्या मुझे अपने

में कुछ उठा नहीं रक्खा। हृदय की सम्पूर्ण अवस्थायें बड़ी सुघड़ता के साथ खोलकर दिखा दी गई हैं। प्रत्येक पद अपने में सम्पूर्ण है और प्रेम की ऐसी अनन्यता व पवित्रता देखकर ऊधव को कहना ही पड़ा—

"मैं ब्रजवासिन की बलिहारी।
जिनके संग सदा है क्रीड़त श्री गोवर्धनधारी॥"

और ऊधव प्रेम-सरिता में ज्ञान गठरी बहाकर मथुरा लौट गए। और कृष्ण के पूछने पर उन्होंने ब्रज-दशा बताई—

"सुनिये ब्रज की दशा गोसाईं।"

और वह दशा भी क्या—

"सुनहु श्याम वे सब ब्रज वनिता विरह तुम्हारे भईं बावरी।
नाँहि न नाथ और कहि आवत छांड़ि जहाँ लगि कथा रावरी।"

और बेचारी राधा की दशा—

जब राधे तबहीं मुख माधो माधो रटत रहे।
जब माधो होई जात सकल तनु राधा विरह दहे।"

× × × ×

और

"तुम्हरे विरह ब्रजनाथ राधिका नैनन नदी बढ़ी।"

अतः इसका उपाय भी केवल एक ही है और कुछ नहीं—

"नाहिन और उपाय रमापति बिन दरशन जो कीजे।
अंशु सलिल बूड़त सब गोकुल सूर सुकर गहि लीजे॥"

और ऊधव प्रार्थना भी करते हैं—

"दिन दस घोष चलहु गोपाल।
गाइन के अवसेर मिटावहु लेहु आपने ग्वाल॥"

इस पर श्रीकृष्ण को कहना ही पड़ा—

"सुन ऊधो मोहिं नेक न बिसरत वे ब्रजवासी लोग।"

ज्ञान का अभिमान हो गया था। ऊधव अभी सोच ही रहे थे कि गोपियों ने फिर कहा—

"ऊधो योग जोग हम नाँही।"

और,

"ऊधो सुनिहो बात नई-सी।
प्रेम बानि की चोट कठिन है लागी होइ कहो कत कैसी।"

इसलिये अपने इस योग को किसी अन्य उपयुक्त व्यक्ति के पास ले जाओ जो तुम्हारे माल का अच्छा मूल्य चुका दे!

"ऊधो जाहु सबार यहाँ ते बेगि गहर जनि लावहु।
मुख माँगो पैहो सूरज प्रभु साहुहि आनि दिखावहु॥"

और फिर विनयपूर्वक दीनता प्रदर्शित करती हुई गोपियाँ कहती हैं—

"ऊधो तिहारे पाँइ लागति हौं कहियो श्याम सों इतनी बात।
इतनी दूर बसत क्यों बिसरे अपनी जननी तात॥"

और कम-से-कम इन गायों का तो ध्यान रखते—

"मधुकर इतनी कहियो जाइ।
अति कृश-गात भई ये तुम बिनु परम दुखारी गाइ॥"

और फिर कृष्ण मथुरा ही में बने रहें कहीं अन्यत्र न चले जायँ, इस आशंका से आशंकित गोपियाँ अपने प्रेमी की कुशल-कामना चाहती हुई विनय करती है—

"ऊधो इतनी जाइ कहो।
सबै बिरहिनी पाइँ लागति हैं मथुरा कान्ह रहो॥"

यदि यहाँ आकर हमें दर्शन न दे सको तो न सही, वहीं रहने पर हमें कभी-कभी कुशल-समाचार मिल जायँगे—यही क्या कम है। प्रेमी के सर्वस्व त्याग व समर्पण का इससे अच्छा उदाहरण और कहाँ मिल सकता है। सूर ने इस वियोग-वर्णन

में कुछ उठा नहीं रखा। हृदय की सम्पूर्ण अवस्थाएं बड़ी सुघड़ता के साथ खोलकर दिखा दी गई हैं। प्रत्येक पद अपने में सम्पूर्ण है और प्रेम की ऐसी अनन्यता व पवित्रता देखकर ऊधव को कहना ही पड़ा—

"मैं व्रजवासिन की बलिहारी।
जिनके संग सदा है क्रीड़त श्री गोवर्धनधारी॥"

और ऊधव प्रेम-सरिता में ज्ञान गठरी बहाकर मथुरा लौट गए। और कृष्ण के पूछने पर उन्होंने व्रज-दशा बताई—

"सुनिये व्रज की दशा गोसाईं।"

और वह दशा भी क्या—

"सुनहु श्याम वै सब व्रज वनिता विरह तुम्हारे भईं बावरी।
नाँहि न नाथ और कहि आवत छाँड़ि जहाँ लगि कथा रावरी।"

और बेचारी राधा की दशा—

जब राधे तबहीं मुख माधो माधो रटत रहे।
जब माधो ह्वै जात सकल तनु राधा विरह दहे।"

× × × ×

और

"तुम्हरे विरह व्रजनाथ राधिका नैनन नदी बढ़ी।"

अतः इसका उपाय भी केवल एक ही है और कुछ नहीं—

"नाहिन और उपाय रमापति बिन दरशन जो कीजै।
अंशु सलिल बूड़त सब गोकुल सूर सुकर गहि लीजै॥"

और ऊधव प्रार्थना भी करते हैं—

"दिन दस घोष चलहु गोपाल।
गाइन के अवसेर मिटावहु लेहु आपने ग्वाल॥"

इस पर श्रीकृष्ण को कहना ही पड़ा—

"सुन ऊधो मोहिं नेक न बिसरत वै व्रजवासी लोग।"

धन्य हैं वे व्रजवासी जिनका स्मरण भगवान् कृष्ण को पल भर भी नहीं भूलता और धन्य हैं महात्मा सूरदास जिनकी अमर लेखनी ने इस काव्य को, अमर कर दिया।

संक्षेप में यहाँ तक सूर के विप्रलंभ शृङ्गार का किंचित विवेचन किया गया। अब उनकी भाषा तथा अन्य साहित्यिक गुणों का भी सिंहावलोकन कर लिया जाय तो उपयुक्त ही होगा। सूर की भाषा शुद्ध व्रज-भाषा थी। व्रज-भाषा में ही साधारणतः सम्पूर्ण कृष्ण-काव्य मिलता है और अधिक काल तक यही भाषा काव्य-भाषा भी रही है। उनकी भाषा का माधुर्य, उसकी कोमलता और सजीवता है। उसमें यद्यपि तत्कालीन प्रवृत्तिवाले फारसी के शब्द भी मिलते हैं, किन्तु वे सब चलते हुए व जनसाधारण की बोली में बोले जानेवाले शब्द हैं। जन-कवि के रूप में यदि हम महात्मा सूरदास को देखें तो उनकी भाषा का माधुर्य और भी निखर आता है। उसमें स्वाभाविक सहजपन विद्यमान है। कृष्ण की वीरता आदि के चित्रण में उनकी भाषा ओजमयी हो गई है। सूर की भाषा का महत्त्व एक वाक्य में भारतीय जनता में उसीकी बोली द्वारा सूर का उसमें घुल-मिल जाना ही है। सूर ने अलंकारों को समक्ष रखकर रचना नहीं की। अनायास रूप में रूपक, उत्प्रेक्षा, उपमा आदि अलंकार भाषा के सौष्ठव को बताते हुए स्वयं ही दृष्टिगत हो रहे हैं। उपमायें तो सूर की अनूठी रहीं और बाद के आनेवाले कवियों ने तो मानो उनका पिष्ट-पेषण ही किया है। सामान्यतः सूर ने साहित्यिक खिलवाड़ के लिये कविता नहीं लिखी। अपवाद-स्वरूप उनके दो चार दृष्टकूट पद छोड़े जा सकते हैं। उदाहरणार्थ एक पद के कुछ चरण लीजिए—

"कहत कत परदेसी की बात।

मंदिर अरध अवधि बदि हमसों, हरि अहार टरि जात ॥"
उस परदेसी प्रिय कृष्ण की क्या बात कहें जो मंदिर-अरध
=पक्ष=एक पखवाड़ा (१५ दिन) की अवधि देकर अभी तक
जब कि हरि=सिंह, अहार=भोजन=सिंह का भोजन=मांस
=मास (३० दिन) व्यतीत होने आया। आदि।

ईश्वर को धन्यवाद है कि महात्मा सूरदास के हाथ से यह
साहित्यिक खिलवाड़ दो चार पदों तक ही सीमित रहा। पुष्टि
संप्रदाय में दीक्षित होने के कारण सूर का हृदय कृष्ण के सौंदर्य
पर ही रम सकता था, ऐसी क्रीड़ाशील रचनाओं में नहीं।
हिन्दी साहित्य का सौभाग्य ही समझना चाहिए कि सूर की
मनोवृत्ति हृदय के स्वाभाविक व्यापारों के निरूपण ही में लगी
जिससे तत्कालीन समाज का तो लाभ हुआ ही—तब से लेकर
अब तक हिन्दू जाति अपने हृदय को इससे सिक्त करती आरही
है। सूर ने मानव-मन की संपूर्ण दशाओं का अपने स्वाभाविक
ढंग से बड़ा ही भव्य वर्णन किया है, वर्णन इतने सरल हैं कि
वे सीधे हृदय पर ही प्रभाव डालते हैं। किसी भी पद को प्रारंभ
करने के उपरान्त उसे समाप्त किये बिना चैन नहीं मिल सकता
और फिर उसका प्रभाव तो अमिट पड़ता ही है। यह सब यदि
दृष्टिकूट पदों में होता तो उसका क्या रूप होता—इसकी तो
कल्पना ही नहीं की जा सकती।

सूर व अन्य कवि—सूर के महत्त्व को समझने के लिए
यह अप्रामाणिक न होगा, यदि हम उनके समकालीन अथवा
पूर्वापर कवियों के काव्य को समक्ष रख कर उसका किंचित्
विवेचन करलें। मैं सिद्धान्तः किसी कवि को किसी अन्य कवि
से तुलना करना अनुपयुक्त ही नहीं अवाञ्छनीय समझता हूँ।
मेरी सम्मति में प्रत्येक कवि अपने-अपने स्थान पर श्रेष्ठ है और

प्रत्येक की स्थितियाँ, मनोवृत्तियाँ व प्रणालियाँ उनकी अपनी निजी होती हैं। अतः यहाँ हम उनकी तुलनात्मक विवेचना कर कोई निष्कर्ष निकालकर किसी को छोटा-बड़ा सिद्ध करने का प्रयत्न नहीं करेंगे। केवल सूर का वास्तविक महत्त्व समझने के लिए ही हम एक-दो कवियों को सामने रखकर उनका मूल्य हिन्दी साहित्य में आँकने का किंचित् प्रयास करेंगे। हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल के किसी कवि या महाकवि से सूर की तुलना करना और फिर सूर के साहित्य का मूल्यांकन करना उपहासास्पद व अवांछनीय होगा। आधुनिक युग में भाव, भाषा, छन्द व शैली आदि सभी दृष्टियों से बहुत कुछ परिवर्तन हो गया है और वादों के आवृत्त ने तो साहित्य में कायाकल्प-सा ही कर दिया है। हिन्दी साहित्य का रीतिकाल एक बँधी-बँधाई धारा में बहता रहा और काव्य, तपस्या, भक्ति व अभिव्यंजना किसी भी दृष्टि से इस काल के कवि किसी भी रूप में सूर के *सन्मुख ठहरने का दुःसाहस भी नहीं कर सकते। वस्तुतः इस* युग के कवियों के भाग्य में न तो प्रबन्ध-काव्य लिखना बदा था और न आत्मनिवेदनात्मक प्रवृत्ति के अभाव में गीतिकाव्य ही। अब सामान्यतः दो काल और शेष रहते हैं—वीरगाथा काल व भक्ति-काल। वीरगाथा-काल व उसके उपरान्त के कुछ समय के महान् कवियों में हम चन्द, कबीर व जायसी को ले सकते हैं। चन्द के रासो की प्रमाणिकता व अप्रमाणिकता का झंझट अभी ज्यों-का-त्यों बना हुआ है और इसे यदि ध्यान में न भी रखें तो भी ग्रन्थ की विशालता, भाषा की अव्यवस्था, वर्णनों की अतिशयोक्ति व प्रक्षिप्त अंशों की भरमार के कारण चन्द के इस ग्रन्थ को सूरसागर के समकक्ष रखकर सूर-साहित्य का विश्लेषण करना शोभनीय नहीं हो सकता। अपनी प्राचीनता और वीरगाथा-काल की एक विशेष प्रकार की विशेषता के

कारण चन्द व उनका महान ग्रन्थ अपने ही स्थान पर सुशोभित है; उसका उस स्थान से इधर-उधर करना अप्रामाणिक ही होगा। अब उस युग के आगे होने वाले महात्मा कबीर सामने आते हैं। भाषा व भावना की दृष्टि से कबीर का काव्य, काव्य नहीं ठहरता। निर्गुण पंथ की ज्ञान-गरिमा की विशेषता लिए हुए कबीर भारत के एक वर्ग की जनता में यद्यपि संतस्वरूप प्रतिष्ठित व मान्य हुए तथा उनके पदों का (प्रक्षिप्त व विकृत अंश में ही सही। आज भी एक वर्ग के व्यक्तियों में पर्याप्त प्रचार है, तथापि साहित्यिक गौरव का उसमें अभाव है और भक्तभावना भी कबीर में सगुण रूप की नहीं है। उनकी प्रेम की पीर तो सूफी धर्म से प्रभावित होने के कारण अभारतीय है, अतः इन कारणों से कबीर को सूर के समकक्ष रखना भी अनुपयुक्त ठहरता है। अब इस काल में जायसी बचते हैं। साहित्यिक दृष्टि से जायसी के पद्मावत का विशेष महत्व है, अतः संक्षेप में आइये जायसी व सूर के काव्य की किंचित् समीक्षा करते चलें।

जायसी व सूर दोनों के काव्य-ग्रन्थ साहित्यिक दृष्टि से महाकाव्य की श्रेणी में आते हैं। भाषा की दृष्टि से जायसी की भाषा परिश्रमी अवधी ठहरती है जिसमें बोली की सुमधुर मिठास है और सूर की भाषा व्रज-भाषा है जिसमें माधुर्य के साथ साहित्यिकता का भी सुन्दर पुट है। जायसी के विचारों पर भारतीय व अभारतीय दोनों भावनाओं का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है और अनेक स्थान पर जायसी, भारतीय भावनाओं को ठीक प्रकार न समझने के कारण, उनका भ्रम-पूर्ण वर्णन करते पाये जाते हैं। निर्गुण की ज्ञान-गरिमा से आविर्भूत होते हुए भी जायसी प्रेम की पीर से पीड़ित रहे और विनम्रता-वश में पण्डितों के पिछलगा भी बने रहे,

नथापि उनकी प्रेम-पीड़ा सूफी व यवन धर्म की एकांतिक वह प्रेम-व्यथा है जिसका भारत के साथ पूर्ण मेल नहीं हो पाता और पंडितों के तिढलगा रहने पर भी पंडितों के ज्ञान की जानकारी प्राप्त करने का उन्होंने प्रयत्न नहीं किया और इस कारण उनकी जानकारी वास्तविकता की दृष्टि से अविश्वसनीय ही रही। हाँ, ऊहात्मक कल्पना की दृष्टि से उसकी उड़ान बहुत ऊँची है। जायसी के काव्य के नायक एक ऐतिहासिक व्यक्ति हैं और उनके द्वारा आत्मा-परमात्मा के प्रेम का सम्बन्ध बताने का प्रयास किया गया है। अतः प्रबंध-काव्य की कथा के अन्तर्गत जायसी को पद-पद पर ईश्वर की निर्गुण सत्ता का भान कराना पड़ रहा है जब की सूर के काव्य के नायक स्वयं ही अवतारी महापुरुष हैं और उनसे प्रेम करने वाली गोपियाँ भक्त-स्वरूप में अङ्कित हुई हैं। जायसी का सम्भोग पक्ष तो कहीं-कहीं अश्लीलता की सीमा भी लाँघने लगा है और उनके प्रेम-पक्ष की धारणा अस्वाभाविक-सी हो उठी है। सुग्गे के वर्णन-मात्र से रतनसेन को पद्मावती के रूप पर आसक्त होना प्रेम तो नहीं कहा जा सकता—हाँ, इसे लोभ मान सकते हैं। पर यहाँ तो कृष्ण व गोपियों के साथ-साथ प्रारम्भिक अवस्था से ही रहने के कारण जो स्वाभाविक सहज स्नेह उत्पन्न होता है वही समय पाकर यौवनावस्था में प्रगाढ प्रेम का स्वरूप धारण करता है। अतः सूर के प्रेम-वर्णन में अप्राकृतिक कृत्रिमता को स्थान नहीं मिलता। अब रहा जायसी का वियोग-वर्णन जो उनके सम्पूर्ण काव्य में उत्कृष्ट माना जाता है। इस वर्णन में भी बारहमासा आदि की परिपाटी विद्यमान है और अतिशयोक्ति की तो भरमार है ही, तथापि कहीं-कहीं वर्णन अत्यन्त ही मनोरम हो जाता है। यों तो जायसी की नागमती का विरह जड़-चेतन सभी को दग्ध कर रहा है—

"जेहि पंखी के नियर होइ, कहै बिरह कै बात।
सोई पंखी जाइ जरि, तरिवर होहिं निपात ॥"

तथापि उसकी प्रार्थना व दीन दशा से पिघलकर अन्त में एक पक्षी संदेशा लेकर जाता ही है, पर सूर की गोपियों का संदेशा ले जाने वाला तो कोई मिलता ही नहीं। "संदेशन मधुवन कूप भरे" और "सूर संदेशन के डर पथिक न वा मग जात" कोई उस मार्ग से निकलता ही नहीं। कहीं-कहीं ऊहात्मक वर्णन में सूर व जायसी में साम्य दिखलाई पड़ता है।

उदाहरणार्थ

"गहै बीन मकु रैन बिहाई। ससि बाहन तहँ रहै ओनाई ॥
पुनि धनि सिंघ उरेहै लागै। ऐसेहि बिथा रैनि सब जागै ॥"

—जायसी

"दूर करहु बीना को धरिबो।
मोहे मृग नाहीं रथ हाँक्यों नादित होत चंद को ढरिबो।"

—सूर

और कहीं प्रकृति को अपने वियोग में रँगने अथवा उसे कोसने में दोनों कवि तद्वत दिखलाई पड़ते हैं। जैसे—

"राते बिंब भीजि तेहि लोहू। परवर पाक फाटि हिय गोहूँ।"

—जायसी

"मधुबन! तुम कत रहत हरे?
विरह वियोग स्याम सुन्दर के ठाढ़े क्यों न जरे?"

—सूर

ऊपर आई हुई पंक्तियों में हमारा साम्य दिखाने का प्रयोजन नहीं है, इससे केवल यह समझना चाहिए कि प्रेम-विरह-वर्णन में जब एक सी पीड़ा हो जाती है तब भाषा व छंद का बंधन बंधन नहीं रहता, भावना में तादात्मय हो ही जाता है।

दोनों की दृष्टि से सूर व जायसी समान नहीं हैं। जायसी ने गीतिकाव्य नहीं लिखा, जबकि सूर ने गीति-पद्धति पर ही अपने सागर की रचना की है। संगीत, पद-लालित्य, भावों का अनूठा वर्णन, मानसिक दशाओं के चित्रण व भावुकता की छाप आदि की सूर की अपनी विशेषताएँ हैं और प्रबंध-काव्य के वर्णन प्राचुर्य, संबंध निर्वाह, एक समरस छंद की समानता, हिन्दू-मुस्लिम मेल आदि की भावना आदि की जायसी की अपनी विशेषताएँ हैं और इस दृष्टि से अपने-अपने स्थान पर दोनों कवि महान् हैं। हाँ, जनता के हृदय रंजन, भक्ति-क्षेत्र में उसके मार्ग-प्रदर्शन और हिन्दुत्व की रक्षा आदि की दृष्टि से तथा संगीतात्मक पद-प्रचार के रूप में सूर का विशेष महत्व स्पष्ट ही लक्षित हो रहा है।

अब हिंदी साहित्य का भक्ति-काल रह जाता है जिसमें सूर स्वतः ही उत्पन्न हुए थे। इस युग में सर्वश्रेष्ठ महात्मा व महाकवि गोस्वामी तुलसीदास जी भी हुए हैं, तथा इस काल के अन्तिम दिनों में हम महाकवि केशव को भी ले सकते हैं। गोस्वामीजी के काव्यालोचन के पूर्व हम सूर व केशव के काव्य की किंचित् समीक्षा करते हैं। महाकवि केशव रीतिकालीन युग में भी लिये जाते हैं और इस काल की विशेषताओं से विभूषित होने के कारण आप आचार्य भी कहे जा सकते हैं, आपके 'कविप्रिया', 'रसिकप्रिया' आदि ग्रन्थों में हम रामचंद्रिका को ही लेते हैं, क्योंकि उसी को दृष्टि में रखकर सूर के सूरसागर का आकलन करना ठीक प्रतीत होता है। केशवदासजी का यह ग्रन्थ महाकाव्य की श्रेणी में रक्खा जाता है, इसमें चाहे प्रबंध काव्य-पटुता न हो और चाहे संबंध निर्वाह भी समुचित न हुआ हो, तथापि अपनी कुछ विशेषताओं के

कारण इस ग्रन्थ का अपना एक पृथक् महत्त्व है। वस्तुतः छंद-बाहुल्य व विभिन्नता के कारण प्रबन्ध काव्य का-सा कथा-क्रम-विराम व व्यवस्थित क्रम इसमें न आ सका और यह एक बिखरे हुए मोतियों का ढेर-सा तो प्रतीत होता है, किंतु मुक्ता-माला के पृथक् गुम्फाओं का रूप सुन्दर बन सका। इस ग्रन्थ में राम-भक्ति व उनका चरित्र ही गाया गया है, अतः राम-चरित्र, प्रेम, भक्ति, विनय या वियोग-वर्णन इन्हीं दृष्टियों से हमें सूरसागर को समक्ष रखकर इसे देखना है। केशवदासजी ने राम को इष्टदेव तो माना है, किन्तु राम व सीता का चरित्र-चित्रण करने में उन्हें अपने अलंकारों का ही ध्यान रहा और वे "बासर की संपति उलूक ज्यों न चितवत" से कहीं राम की उपमा उल्लू तक से दे देते हैं। चरित्र-चित्रण में और छवि-वर्णन में सूर अपने इष्टदेव की महानता कहीं नहीं भूले और कहीं भी ऐसी अनर्गल बातें नहीं आ पाईं। इसी प्रकार राम का वन-गमन के समय कौशिल्या-उपदेश भी रामचंद्रिका में विचित्र सा ही दिखता है, तथापि राम की धीरता व गंभीरता का चित्रण भी केशव ने अच्छा किया है और सीता की सुन्दरता में तो सीता मुख की उपमा ही नहीं मिली।

"बासर ही कमल, रजनिही में चंद,
मुख बासरहू रजनि बिराजै जग बंद री।
देखें मुख भावै, अनदेखेई कमल चंद,
ताते मुख मुखै, सखी कमलौ न चंद री॥

वास्तव में केशव कवि हैं भक्त नहीं—सूर भक्त हैं, महात्मा हैं और इसी कारण उनकी-सी काव्य-पवित्रता केशव में कहाँ

से आ सकती थी। केशव के हृदय में तो प्रेम-भाव पूर्ण र
कता से भरा था, यह तो उनके कई छंदों—

"मिलै हारी सखी, डरपायहारी, कादम्बिनी,
दामिनि दिखाय हारी दिसि अधरात कं
× × × ×
कैसेहु न माने हो मनायहारी केसोराय,
बोलिहारी कोकिला, बोलायहारी चातकी॥"

आदि से भली भांति प्रकट हो सकता है, और वृद्धावस्था में भी "केशव केसन अस करी" वाले दोहे से उनकी रसिकता का भान लगाया जा सकता है; पर इस सुन्दर रसिकता का भाव वे अपने पाठकों के हृदयों में जगाने में असमर्थ रहे, इसे स्वीकार करना ही पड़ेगा। भावोद्रेक के लिए कवि में जो कौशल चाहिए, वस्तुतः उसका केशव में अभाव था। प्रसंग का उन्हें ध्यान नहीं था और इसी कारण अनेक विद्वान् उनमें हृदय-हीनता का दोष पाते हैं। केशव को संयत शृङ्गार की महत्ता का भान नहीं था और दरबारी कवि होने के कारण उनकी रसिकता अश्लीलता की सीमा पर पहुँच चुकी थी। सूर का शृङ्गार संयत ही नहीं, परम पवित्र तथा सूर ने शृङ्गार का एक पक्ष ही निरूपण किया है और राधा कृष्ण के सौंदर्य की झाँकी दिखाने तक ही सीमित रखा है और यही कारण है उसे ठीक न समझ सकने के कारण आगे के कवियों ने राधा-कृष्ण के चित्र को एक सामान्य नायक-नायिका के कलुषित चित्रों का स्वरूप दिया और सूर की जूठी उपमाओं द्वारा उसे कलंकित करते रहे—इसमें सूर का दोष नहीं, दोष है उन तथाकथित महा-कवियों का जिनमें पवित्रता का स्वतः ही अभाव रहा और जो नायिका के शृङ्गार वर्णन में गीता से अधिक पवित्र नायिका भेद मानते रहे। यदि कोई रामायण का पाठकर रावण की ही जै

घोले, तो उसमें तुलसीदासजी का क्या अपराध हो सकता है ? 'इसी प्रकार सूर के चित्रण को न समझकर यदि आगे आनेवाले कवि राधा के नाम पर काल्पनिक नायिका का घृणात्मक चित्र अंकित कर साहित्य को गंदा करते रहे तो तत्कालीन मनोवृत्ति की पतनावस्था ही समझना चाहिए । अस्तु, केशवदास में इतना पतन तो निश्चित ही नहीं था। वे वास्तव में पंडित थे, अलंकार या छंदशास्त्र के ज्ञाता थे तथा पाण्डित्य-प्रदर्शन को ही कविता समझते थे और इस दृष्टि से उनकी सूझ अद्भुत या कल्पना अनोखी है तथा उनकी मर्मज्ञता अद्भुत है। अलंकार-निरूपण या छंद वर्णन में तो रीति-काल का कोई कवि उनकी समता नहीं कर सकता। दरबार में रहने के कारण उनमें वाग्विदग्धता भी पर्याप्त मात्रा में विद्यमान थी। उनके काव्य में संवादों का बड़ा महत्त्व है। त्वरित उत्तर-प्रत्युत्तर करने में उनके पात्र वास्तव में कमाल करते हैं। एकाध उदाहरण ही पर्याप्त होंगे।

केशव द्वारा वर्णित रावण-अंगद सम्वाद में रावण व अंगद का प्रश्नोत्तर देखिए—

"राम को काम कहा ? रिपुजीतहिं, कौन कबै रिपु जीत्यो कहा।
बालि बली, छल सों, भृगुनंदन गर्व हर्यो द्विज दीन महा॥
दीन सु क्यों छिति छत्र हत्यो, बिन प्रानन हैहयराज कियो।
हैहय कौन ? वहै बिसर्यो ? जिन खेलतही तोहि बाँधि लियो।"

अंगद का अन्तिम उत्तर तो मानो 'एटम बंब' का काम करता है और उसके आगे तो तत्सम्बन्धी प्रश्न करने के लिए कोई स्थान न पाकर रावण को प्रसंग बदलना ही पड़ता है। ऐसे एक नहीं अनेक संवाद केशव के उदाहरण में दिये जा सकते हैं—पर यहाँ केशव-समीक्षा हमारा उद्देश्य नहीं है । केशव ने गीति-पद्धति पर ध्यान नहीं दिया और इससे आत्म-निवेदनात्मक

प्रवृत्ति का उनमें सर्वथा अभाव पाया जाता है। उनका काव्य सरस कम, छटा सम्पन्न अधिक है, जैसे—

"प्रसी बुद्धि सी चित्त चितानि मानो।
किधौं जीभ दन्तावली में बखानो॥
किधौं घेरिकै राहु नारीन लीनी।
कला चन्द्र की चारु पीयूस-भीनी॥"

रावण की अशोकवाटिका में सीता का कारुण्यपूर्ण नहीं तो अलंकार सौंदर्य समन्वित चित्र तो अनुपम है ही। इसी प्रकार निम्नांकित छंद में चाहे रावण की सौंदर्य-लोलुपता का चित्र सजीव न उतर पाया हो, पर छंद छटा व अलंकार चमत्कार को कौन अस्वीकार कर सकता है—

"कृतघ्नी, कुदाता, कुकन्याहि चाहे।
हितू नग्न मुण्डीन ही को सदा है॥
अनाथै सुन्यो मैं अनाथानुसारी।
बसैं चित्त दंडी जटी मुण्ड धारी॥"

केशव का विरह वर्णन भी पाठकों का हृदय आविर्भूत नहीं कर पाता। सीता द्वारा अपने वियोग का कथन व राम द्वारा हनुमान-संदेशा आदि सब चलताऊ ढंग से ही कहे गए हैं। वस्तुतः केशव का हृदय इन मर्मस्पर्शी बातों के वर्णन करने में इतना नहीं रमा जितना साहित्यिक खिलवाड़ करने में। इन अलंकारों के फेर में पड़ने के कारण उनकी भाषा का माधुर्य नष्ट हो गया। उनकी भाषा की कठिनता वा जटिलता प्रसिद्ध ही है। उन्हें कठिन काव्य का प्रेत माना जाता है और 'जिस कवि को विदाई न देनी हो उससे केशव की कविता पूछे' वाली कहावत तो आज तक चली ही आती है। केशव की भाषा यद्यपि संस्कृत-बहुल और सुव्यवस्थित है, किंतु जन-साधारण तो क्या

बड़े-बड़े साहित्यिकों के लिए भी कहीं-कहीं अधिक दुरूह हो उठी है। उसमें शब्द चमत्कार तो दर्शनीय है। छंद-प्रवाह के कारण अद्भुत गति भी विद्यमान है और इसी से वह पठनीय अधिक, स्मरणीय कम है तथा प्रभावोत्पादक तो है ही नहीं, क्योंकि उसमें हृदय को रसावलिप्त करनेवाली कोई वस्तु है ही नहीं। केशव की भाषा का स्वरूप बताने के लिए एक ही छंद पर्याप्त होगा। रावण अपनी प्रशंसा में कहता है—

"वज्र को अखर्व गर्व गंज्यो जेहि, पर्वतारि,
जीत्यो है; सुपर्व सर्व भागे लैलै अंगना।
खण्डित अखंड आसु कीन्हों हो जलेश-पासु,
चंदन-सी चंद्रिका सों कीन्हीं चंद वंदना॥
दंडक में कीन्हों काल दण्ड हू को मान खण्ट,
मानों कीन्हीं काल ही की काल खंड खंडना॥
केशव, कोदण्ड विमदण्ड ऐसे खंडे अब,
मेरे भुजदण्डन की बड़ी है बिडम्बना॥

अब एक पद सूरदास का भी देखिए—

"झहरात झहरात दवानल आयो।
घेरि चहूँ ओर, करि सोर अंधेर,
घन धरनि-अकास चहूँ पास छायो॥
बरत बन बाँस, थरहरत कुस-काँस,
जरि उड़त बहु भाँस अति प्रबल धायो॥
लपटि झपटत लटप, पटकि फूल फूटत,
फटि चटकि लट लटकि द्रुम नवायो॥"

इसमें यह कदाचित् बतलाने की आवश्यकता नहीं कि प्रबलता चित्रण करते हुए भी भाषा का माधुर्य व भाव-सौष्ठव नष्ट नहीं हुआ और यही सूर-ऐसे महान् कवि का महानता का द्योतक है।

अब सूरदासजी को गोस्वामी तुलसीदासजी के समकक्ष रखने के पूर्व हमें अष्ट-छाप के अन्य महान् कवि श्री नंददास का भी स्मरण रखना है। इस भक्ति-काल के और अन्य कवि तो सूर के समक्ष खड़े ही क्या होंगे। श्री नन्ददासजी के 'भँवर-गीत' को ही हम सूर के 'भ्रमर-गीत' के समकक्ष रख सकते हैं। यों तो दोनों भ्रमर गीतों की कथा का आधार भागवत ही है, जिसका संकेत पीछे किया जा चुका है; पर दोनों की शैली विभिन्न है। श्री नन्ददासजी परम भागवत, महान भावुक सत्कवि थे। कहते हैं कि वे 'जड़िया कवि' थे। कुछ भी हो उनकी कविता हृदय-वेधिनी, मर्मस्पर्शिनी, सरस व सजीव होती थी। पद में भी, भाषा शैली व भाव गाम्भीर्य में आपका ढंग अन्य कवियों से निराला दृष्टिगत होता है। 'भँवर-गीत' आपकी उत्कृष्ट रचना है। नंद ने इस भँवर-गीत में गोपियों का चित्रण आँख खोलकर प्रेम करनेवाली स्त्रियों के रूप में किया है। नंद की गोपियाँ तार्किक हैं, वे मस्तिष्क से ऊधव की बात सुनती हैं और फिर उन्हें तर्क व ज्ञान द्वारा परास्त करती हैं। इसके विपरीत सूर की गोपियाँ भोरी हैं, बावरी हैं, वे ऊधव का संदेसा सुनकर हतबुद्धि-सी रह जाती हैं। सूर का भ्रमर-गीत भागवत के पूर्ण आधार पर है, अतः उसमें नंद-यशोदा, राधा, व गोपी तीन पर गीत मिलते हैं; पर नंद के केवल एक गोपियों पर ही। सूर की गोपियों का हृदय-पक्ष प्रधान है तो नन्द की गोपियों का बुद्धि-पक्ष। नन्द का भँवर-गीत क्रम व व्यवस्था से युक्त है तथा वार्तालाप का सुन्दर गुण उसमें विद्यमान है। छंद भी उसमें रोला है और फिर एक छोटी-सी पंक्ति जोड़कर मौलिकता का प्रदर्शन भी किया गया है। सूर के भ्रमर-गीत गीतिकाव्य-पद्धति पर पदों में ही हैं। उसमें व्यवस्था नहीं, किंतु प्रेम में अव्यवस्था हो ही जाती है और फिर जैसे भाव जब उठे

कहे गए और उन्हीं का वास्तविक दिग्दर्शन भी कराया गया, पर यह प्रेम-व्यंजना है अनूठी। भाषा की दृष्टि से नंद की भाषा भी व्यवस्थित है।

उदाहरणार्थ—

"कोई कहैरी मधुप भेष उनाही को धारयो।
स्याम पीत गुंजार बैन किंकिणि भनकारयो॥
वापुर गोरस चोरि के फेर आयो यहि देस।
इनको जनि मानहु कोऊ कपटी इनको भेस॥
चोरि जानि जाय पछु।'

और उधर

"ऊधौ कारे सबहि बुरे।
कारे की परतीत न करिये विष के बुते छुरे॥"

कहने की आवश्यकता नहीं कि सूर की गोपियों का भोलापन ही प्रेम की समुचित पहचान है। प्रेम में तर्क कैसा? और फिर प्रेम हृदय से किया जाता है—या अनायास ही हृदय में उत्पन्न हो जाता है—फिर प्रेमी अपने प्रियतम की अटपटी बातों का स्वप्न में भी ध्यान नहीं कर सकता। अतः ऊधो का प्रेम की बातें छोड़कर श्रीकृष्ण का ब्रह्म विषयक संदेसा गोपियों को भौंचक्का बना देता है। स्मरण रखने की बात है कि इनसे उनके स्वाभाविक प्रीति व विश्वास से भरे हृदय पर आघात अवश्य लगता है, किन्तु कृष्ण के प्रेम में कोई भी अन्तर नहीं आता। गोपियों का उपालम्भ भी यहाँ प्रेम भरा बना रहता है और यही कारण है कि जहाँ मनोवैज्ञानिकता के सहारे तार्किक रूप से उधव के ज्ञान पर प्रेम की छाप बैठाने का नंद की गोपियाँ प्रयत्न करती हैं, वहाँ सूर की गोपियाँ प्रेम विह्वल होकर अनाथ सी फिरती हैं और नंद की गोपियों के तर्क से परास्त होकर ऊधव जहाँ शास्त्रार्थ से हारे हुवे पंडित के समान नीचा

मिरकर चले जाते हुए दिखाई देते हैं, यहाँ सूर की गोपियों के प्रेम में ज्ञान नहाकर वे अपने आप ही अपने को प्रेम-विभोर हुए-से पाते हैं। सूर की ज्ञान पर प्रेम के द्वारा ही प्रेम की छाप लगानेवाली यही प्रेम-विजय है।

यहाँ तक सूर के स्वाभाविक प्रेम की विजय का चित्रण हुआ। अब सूर को तुलसी के सम्मुख रखते हुए भी देखें कि सूर का तुलसी के समान या उससे अधिक कितना व कैसा महत्त्व है! यह पहले ही कहा जा चुका है कि कवियों की तुलनात्मक विवेचना में किसी को हीन व किसी को महान् बताना हमारा कोई उद्देश्य नहीं है और सिद्धान्ततः सूर व तुलसी ऐसे महात्माओं के विषय में तो यह धृष्टता की ही नहीं जा सकती। हिन्दी साहित्य के दोनों ही कर्णधार हैं और दोनों के कारण ही साहित्य की प्रतिष्ठा व उसका गौरव है। एक-दूसरे को पृथक् करने से भी साहित्य छिन्न-भिन्न-सा लगेगा। मेरी अपनी तुच्छ सम्मति में तो हिन्दी साहित्य के लिए दोनों अभिन्न हैं। अतः यहाँ तो केवल दोनों के कतिपय पदों द्वारा भावों को समझने व साहित्यिक अभिरुचि जाग्रत करने का ही प्रयास किया जायगा। यह बताया जा चुका है कि सूर की भक्ति सख्य-भाव की थी। गोस्वामी तुलसीदासजी की भक्ति दास्य-भाव की मानी जाती है; किन्तु आत्म-निवेदन में दोनों प्रायः समान ही हैं और सख्य या दास्य वर्ग भेद का कोई अन्तर या प्रभाव अपनी हीनता की सूचना देने में किंचित् मात्र भी नहीं आता। तुलसी जहाँ प्रभु की दयालुता बताते हुए अपने को प्रसिद्ध पातकी बताते हैं, तो सूर भी अपने को पतितों का नायक बताते हुए प्रभु को पतित-उद्धारक बताते दृष्टिगत होते हैं।

"तू दयालु, दीन हौं, तू दानि, हौं भिखारी।
हौं प्रसिद्ध पातकी, तू पापपुञ्ज हारी॥"—तुलसी

और

"हरि हौं पतितन को टीको।" —सूर

अपने मन को ताड़ना देते हुए दोनों महात्मा उसे प्रभु-पद-भजन की सलाह देते हैं।

"सुनु मन मूढ़ सिखावन मेरो।
हरिपद विमुख लह्यो न काहु सुख, सठ! यह समुझ सवेरो॥
× × ×
छुटै न विपति भजे बिनु रघुपति, श्रुति सन्देहु निबेरो।
तुलसीदास सब आस छाँड़ि करि होहु राम को चेरो॥"

तथा

"मन रे, माधव सौं करि प्रीति।
काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह तू, छाँड़ि सबै विपरीति॥
× × ×
जो पै जिय लज्जा नहीं, कहा कहौं सौ बार।
एकहु आँक न हरि भजे, रे सठ, सूर, गँवार॥"

दोनों कवियों ने मन की मूढ़ता स्वीकार की है जो विषय-रस-लम्पट होकर कहने से नहीं मानता। इस मन ने मुझे अत्यन्त ही नाच नचा रखा है—यह बात दोनों मानते ही हैं।

"अब मैं नाच्यो बहुत गोपाल।
काम क्रोध को पहिरि चोलना, कंठ विषय की माल॥"—सूर

और

नाचत ही निसि दिवस गँवायो।
बहु बासना, विविध कंचुकि, भूषन लोभादि भर्यो।
चर अरु अचर गगन जल-थल में, कौन न स्वाँग कर्यो॥—तुलसी

इस मन को वश में करने के लिए एक ही उपाय है कि प्रभु के चरणों का आश्रय लिया जाय। उन्हें छोड़कर और कहीं इस संसार में स्थान नहीं मिल सकता।

"जाऊँ कहाँ तजि चरन तुम्हारे।
काको नाम पतित पावन जग, केहि अति दीन पियारे॥"—तुलसी

और सूर भी "हरि बिन आपनो को संसारी?" समझते हुए प्रभु के चरणों में चित्त लगाने की बात कहते हैं।

यदि यह मन विकार छोड़कर प्रभु के चरणों में लग जाए, तो इसे इस संसार की असारता का भान हो जाए और फिर उसमें समा जाए जहाँ से पुनः न आना पड़े!

"जौ निज मन परिहरै बिकारा।
तौ कत द्वैत जनित संसृति दुःख; संसय सोक अपारा॥
× × ×
रघुपति भगति बारि छालित चित बिनु प्रयास ही सूझै।
तुलसिदास कह चिद बिलास जग बूझत-बूझत बूझै॥"

और

"जो मन कबहुँक हरि को जाँचै!
आन प्रसंग उपासना छाँड़ै, मन-बच क्रम अपने उर साँचै।
× × ×
जाइ समाइ सूर वा निधि में बहुरि न उलटि जगत में नाचै।"

और इसी प्रकार अपनी जीभ को प्रभु के नाम का स्मरण करने के लिए दोनों महात्माओं की स्पष्ट आकांक्षा दृष्टिगत हो रही है।

"रुचिर रसना तू राम राम क्यों न रटत!
सुमिरत सुख-सुकृत बढ़त, अघ अमंगल घटत॥" —तुलसी,
× × ×

"सोइ रसना जो हरि गुण गावै।
नैनन की छवि यहै चतुरता ज्यों मकरंद मुकुंदहि ध्यावै।"—सूर

अपने इष्टदेव की महानता व दयालुता से बड़ी दया व अनुकम्पा रखनेवाला इस संसार में और कोई नहीं है और इसी कारण अपने प्रभु को छोड़कर और कहाँ किसकी याचना करने जायँ। ये बातें दोनों भक्त अपने इष्टदेव से कहते हैं—

"जो पै दूसरो कोऊ होइ।
तौ हौं बारहि बार प्रभु कत दुख सुनावौं रोइ॥

× × ×

रहे संभु विरंचि सुरपति लोकपाल अनेक।
सोक सरि बूड़त करीसहि दई काहु न टेक॥

× × ×

आपसे कहुँ सौंपिये मोहि जो पै अतिहि घिनात।
दास तुलसी और विधि क्यों चरन परिहरि जात॥"

× × ×

"जो जग और बियो कोउ पाऊँ।
तौ हौं बिनती बार-बार करि, कत प्रभु तुम्हहिं सुनाऊँ?
सिव विरंचि, सुर, असुर, नाग, मुनि, सुतौ जाँचि जन आयो।
भूल्यो भ्रम्यो तृपातुर मृग लौं काहू स्रम न गँवायो॥

× × ×

"सुनु त्रयताप हरन, करुनामय संतत दीनदयाल।
सूर, कुटिल राखौ सरनाई इहि व्याकुल कलिकाल॥"

अपने इष्टदेव ही सब प्रकार से अपनी गति, मति, शक्ति, माता-पिता सभी कुछ हैं और उन्हीं एक से ही उद्धार हो सकता है। भक्ति में भक्त की दृढ़ भावना ही प्रेम का आधार है और यह बात दोनों में एक समान विद्यमान है।

"मेरी तो गति पति तुम, अनतहिं दुख पाऊँ।
हौं कहाइ तिहारो अब, कौन को कहाऊँ?
× × ×
सागर की लहर छाँड़ि खार कत अन्हाऊँ?
सूर, कूर आँधरो मैं द्वार पर्यो गाऊँ॥"
× × ×
"भरोसो जाहि दूसरो सो करो।
मोको तो राम को नाम कलपतरु कलि कल्यान फरो॥
× × ×
प्रीति प्रतीति जहाँ जाकी, तहँ ताको काज सरो।
मेरे तो माय बाप दोउ आखर हौं, सिसु अरनि अरो॥
संकर साखि जो राखि कहौं कछु तौ जरि जीह गरो।
अपनो भलो राम नामहिं ते तुलसिहि समुझि परो॥"

इस प्रकार एक नहीं, अनेक उदाहरण दोनों भक्तों की भक्ति विषयक आत्म-निवेदन के भावना सम्बन्धी दिये जा सकते हैं। जगत् की असारता, शरीर की क्षणभंगुरता और राम या गोपाल-भजन की वास्तविकता दोनों महात्माओं में प्रायः समान मिलती है। हाँ, तुलसी दास्य भाव से जहाँ राम की कृपा का सहारा दीनतापूर्वक चाहते रहे हैं और —

"पन करि हौं हठि आजु तें राम-द्वार पर्यो हौं।
'तू मेरो' यह बिन कहे उठिहौं न जनम भरि, प्रभु की सौं करि
निबर्यो हौं॥"

हठपूर्वक राम के द्वार पर पड़े रहकर भी "टूटियो बाँह गरे परै, फूटेहु बिलोचन पीर होत हित करिए" की भावना से प्रभु को सदा मनाते रहे कि वे उन्हें अपना जन जानकर न परिहरें, वहाँ साख्य-भाव की भावना से सूर ने कुछ अधिक हठ पकड़ने का आग्रह किया है।

"आजु हौं एक-एक करि टरिहौं।
कै हमहीं कै तुमहीं माधव, अपुन भरोसे लरिहौं॥"

पर इस पर भी सूर उठेंगे तभी जब "सूर पतित तबहीं उठिहै प्रभु जब हँसि देहो बीरा" हँसकर प्रभु कृष्ण उन्हें स्वयं उठायेंगे और वही तुलसी भी तभी समझेंगे कि प्रभु राम ने उन्हें अपनाया है जब उनका मन छल-कपट से फिर जाएगा।

"तुम अपनायो तब जानिहौं, जब मन फिरि परिहै।

× × ×

तुलसिदास भयो राम को बिस्वास प्रेम लखि आनँद उमगि उर भरिहै॥"

और कदाचित् यह कहने की अब आवश्यकता नहीं रही होगी कि दोनों की इस अनन्य भक्ति ने उनके भगवानों को द्रवित होने के लिए निश्चित रूप से विवश कर दिया ही होगा। आज भी दोनों द्वारा प्रदर्शित मार्ग भक्तों के लिए सुदृढ़ व उज्ज्वल पथ का कार्य कर रहा है।

यहाँ तक तुलसी और सूर की भक्ति विषयक चर्चा हुई, अब अत्यन्त ही संक्षेप में हम तुलसी व सूर द्वारा वर्णित राम व कृष्ण की छवि का वर्णन करेंगे। दोनों कवि अपने प्रभुओं के अवतार का सुन्दर वर्णन करते हुए पाये जाते हैं—

"आज सुदिन सुभ घरी सुहाई।
रूप सील-गुनधाम राम नृप भवन प्रगट भए आई॥

× × ×

बरषहिं बिबुध-निकर कुसुमावलि, नभ दुन्दुभी बजाई।
कौसल्यादि मातु मन हरषित, यह सुख बरनि न जाई॥"

—तुलसी

× × ×

"आजु निसान वाजे नंद महरि के।
आनन्द मगन नर गोकुल शहर के॥
आनन्द भरी यशोदा उमँगि अंग न समाति,
आनन्दित भई गोपी गावति चहर के॥" —सूर

एक झाँकी और भी—
"अवधेस के द्वारे सकारे गई, सुत गोद कै भूपति लै निकसे।
अवलोकि हौ सोच विमोचन को ठगि-सी रही, जे न ठगे धिक-से॥
तुलसी मनरंजन रंजित-अंजन, नैन सुखंजन-जातक से!
सजनी ससि में सम सील उभै नव नील सरोरुह से विकसे॥"
और उधर—
"सोभा सिंधु न अंतर ही री!
नंद भवन भरि पूरि उमंग चलि व्रज की वीथिनु फिरति वही री॥
देखी जाइ आजु गोकुल में घर-घर वेचति फिरति दही री।
कहँ लग कहौ बनाये बहुत विधि कहत न मुख सहसहुँ निवही री॥
जसुमति उदर अगाध उदधि तें उपजी ऐसी सवनि कही री।
सूर स्याम प्रभु इन्द्रनीलमनि व्रज-बनिता उर लाइ गुही री॥
और इसके आगे राम व कृष्ण के वाल-सौंदर्य "नव नील कलेवर पीत झँगा" "सुरंग कुलही लसित" आदि के द्वारा बहुत ही अनुपम ढंग से दोनों महाकवियों द्वारा वर्णित हुआ है। आँगन में खेलना, दशरथ व नंद बाबा के प्रेम आदि का भी चित्रण अद्वितीय है। माता कौशिल्या व यशोदा के प्रेम का वर्णन तो अत्यन्त ही स्वाभाविक बन पड़ा है। विस्तार-भय से किसी का भी उद्धरण देने में विवश हूँ। दोनों प्रभुओं का चंद खिलौना आदि के लिए झगड़ा करना बड़ा ही स्पृहणीय रहा है। "कबहूँ ससि माँगत आरि करैं, कबहूँ प्रतिबिंब निहारि डरैं"—तुलसी। "लैहौं री माँ मैं चंदा लैहौं"—सूर। इस प्रकार प्रभु बड़े हुए और

गोकुल में ही रहने के कारण कृष्ण ने गोपियों को आकर्षित किया और राम विश्वामित्र के साथ जनकपुर में जाकर वहाँ की नारियों को अनुपम सौंदर्य से आकर्षित करने लगे। यहाँ पर एक बात स्मरण रखने की है कि राम व कृष्ण के प्रेम चित्रण करने में तुलसी व सूर में किंचित् अन्तर है। राम का प्रेम सदा मर्यादित रहा है। तुलसी पर प्रभु का आतंक सदा रहा अथवा यों कहिए कि तुलसी ने राम के प्रेम का चित्रण सदा ऐसी भावना से किया है जिसमें लोकरंजन का पवित्र भाव सामने रहा; इसलिए राजकीय वातावरण का ध्यान सामने रहने से प्रेम के प्रदर्शन में भी सदैव मर्यादा बनी रही। दूसरी ओर कृष्ण का प्रेम अप्रतिहतगति से अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित हुआ, उनके लिए राजकीय वातावरण का प्रश्न ही न था। गोपियों व आभीरों के बीच में स्वच्छंद विचरण, प्रकृति की गोद में स्वतंत्र प्रवाद, गोचारण आदि से उत्फुल्ल गति आदि के कारण प्राकृतिक पवित्रता तो उसने सूर में रखी, किन्तु किसी राजकीय मर्यादा का यहाँ अवकाश ही न मिला और इसी कारण राम का प्रेम अन्त तक अत्यन्त ही संयत व एक-पत्नीव्रत का द्योतक रहा और कृष्ण का विस्तृत व बहुपत्नीव्रत का द्योतक हुआ। इस सम्बन्ध में दोनों महाकवियों की एक प्रारम्भिक झाँकी देखिए।

जनकपुर की वाटिका में राम को सबसे पहले जब अनिन्द्य सुन्दरी सीता दिखलाई पड़ती हैं तब उनके हृदय में आकर्षण तो होता है, किन्तु साथ ही साथ पवित्रता का बन्धन उसे जकड़ लेता है। वे लक्ष्मण से कहते हैं—

"तात जनक तनया यह सोई। धनुष यज्ञ जेहि कारण होई॥
पूजन गौरि सखी लै आई। करत प्रकास फिरत फुलवाई॥

रूप अलौकिक अनुपम सोभा। सहज पुनीत मोर मन लोभा।
रघुवंसनि कर एक सुभाऊ। मन कुपंथ पग धरै न काऊ।
मोहिं प्रतीति अतिसय मन केरी। जेहि सपनेहुँ पर नारि न हेरी।
फरकहिं सुभग अंग सुनु भ्राता। सो सब कारन जान विधाता॥"
—तुलसी

और इधर राधा के प्रथम-दर्शन में कृष्ण के भाव की झाँकी देखिए—

"बूझत स्याम कौन तू गोरी ?
कहाँ रहति काकी तू बेटी, देखी नाहिं कहूँ ब्रज खोरी ?
काहे को हम ब्रज-वन आवति, खेलत रहत आपनी पोरी।
सुनति रहति स्रवननि नँद ढोटा, करत रहत दधि माखन चोरी॥
तुम्हरो कहा चोरि हम लैहैं, खेलन चलो संग मिलि जोरी॥
सूरदास प्रभु रसिक सिरोमनि, बातनि भुरई राधिका भोरी॥"
—सूर

अब यदि ऊपर वाले प्रसंग पर किंचित् ध्यान दें तो दोनों का अन्तर स्पष्ट हो जायगा। एक ओर तो सीता व राम यद्यपि दोनों एक-दूसरे के सौन्दर्य को देखकर आकर्षित होते हैं, किन्तु आपस में कुछ बोल नहीं सकते—दोनों अपनी भावनाएँ दबाये चले जाते हैं। एक जगदम्बा गौरी से अपनी अभिलाषा व्यक्त करती हैं और दूसरे अपने गुरु से अपने हृदय में आये हुए विचार का वर्णन कर देते हैं और दोनों की मनोकामनाओं के सफल होने का दोनों को आशीर्वाद मिल जाता है। प्रेम की पवित्रता व मर्यादा भी बनी रही और वासना, रूप लोभ-जनित विकार भी बच गया जिससे भक्त अथवा साधारण कुत्सित वृत्तिवाले पाठक के हृदय में भी किसी भी प्रकार का विकार आने को कोई अवकाश ही नहीं रहा और यह प्रेम की पवित्रता तुलसी ने अन्त तक अक्षुण्ण रखी है। अब इधर कृष्ण को

लिए। राधा के अनुपम सौंदर्य को देखकर वे आकर्षित होते हैं और बालसुलभ स्वाभाविक प्रवृत्ति से शीघ्र ही उसे अपनी खेल की साथिन बनाने का निमन्त्रण दे बैठते हैं। उधर राधा भी आकर्षित होती हैं, पर कृष्ण पर चोर होने का दोष भी लगाती हैं और बड़ी ही चतुरता से कृष्ण इससे मुकरने का प्रयत्न करते हैं—क्योंकि वे रसिक-सिरोमनि हैं; पर इस प्रेम को दोनों को अपनी माताओं से छिपाना पड़ता है और दोनों कोई-न-कोई बहाना निकालते हैं। प्रेम की यह मुखरता अन्त तक सूर ने अंकित की है। मेरे कहने का यह अभिप्राय नहीं कि दोनों पक्षों में कोई हीन है। दोनों अपने रूप में व अपने स्थान पर सुन्दर व उपयुक्त बने हैं और दोनों का ऐसा ही स्वाभाविक प्रवाह होना चाहिए था; पर इतना जानना आवश्यक है कि दोनों प्रेमों का परिणाम भी वही हुआ जो होना था। गम्भीर प्रेम गंभीरता धारण करता है, तो मुखर प्रेम आगे चलकर विचित्र स्थिति में पड़ जाता है; उसमें शंका उत्पन्न होने लगती है, यद्यपि यह शंका उपयुक्त नहीं होती। उदाहरणार्थ—राम वन-गमन ज्ञात कर सीता अपने प्रेम की गंभीरता-वश सम्पूर्ण सुख त्यागकर राम के साथ वन जाने को तैयार हो जाती हैं और उधर ब्रज से मथुरा गमन पर गोपियों अथवा राधा को सुझ सूझता नहीं कि क्या करें ? यहाँ यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि राम का तो १४ वर्ष के लिए एक प्रकार से निर्वासन ही था और यहाँ कृष्ण का थोड़े (कदाचित् १४ दिन ही) दिनों के लिए थोड़ी ही दूर पर तो जाना था; पर यह ध्यान रखिए कि प्रेम में थोड़े या बहुत को स्थान नहीं ! प्रिय का वियोग चाहे जिस रूप में हो वियोग ही है, और जब दुःख में प्रेमिका प्रेमी के साथ जाने को—अपना सुख त्यागकर जाने को तैयार खड़ी है तब सुख में (लीला ही देखने को सही) तो गोपियाँ और भी

मथुरा जा सकती थीं!! फिर राम के समझाने पर भी प्रेम (पवित्र व गंभीर) घर नहीं रहना चाहता—यह प्रेम-हठ-अवज्ञा नहीं है—यही तो वास्तविकता है और उधर कृष्ण के किंचित समझा देने पर ही बेचारी गोपियाँ मान जाती हैं।

वियोग-वर्णन में सूर की महानता अक्षुण्ण है। उसका कारण भी यही है कि सूर के काव्य को गति किसी बन्धन में नहीं है। जहाँ प्रबन्ध-काव्य का बड़ा बन्धन तुलसी को बाँधे हुए है, तथापि वियोग-चित्रण में तुलसी व सूर कहीं-कहीं अधिक समान हो गये हैं। तुलसी का दशरथ-प्रेम-चित्रण सूर के नन्द-प्रेम-चित्रण से अद्वितीय है। दशरथ प्रेम में अपने प्राण भी विसर्जन कर देते हैं। यहाँ एक बात और ध्यान देने की है कि राम वन-गमन पर भी दशरथ से, दशरथ की राम-प्रति आतुरता ज्ञात कर भी, कौशिल्या अथवा मुखर सुमित्रा भी कोई ताना नहीं कसतीं—यहाँ भी वियोग की विपन्नावस्था में भी प्रेम की मर्यादा बनी हुई है; पर उधर नन्द से यशोदा की झुँझलाहट स्पष्ट ही है—यद्यपि वह भी स्वाभाविक ही है। यशोदा इधर विलाप करती हुई कहती है—

"मेरो माई निधनी को धन माधो।"

और

"भूमि मसान विदित ए गोकुल, मनहु धाइ धाइ खाइ।
सूरदास प्रभु पास नाहिं हम देखें रूप अघाय॥"

के द्वारा यशोदा की व्याकुलता देखी जा सकती है।

और उधर—

"आजु की भोर और सो माई।
सुनौं न द्वार वेदवन्दी धुनि, गुनि गन गिरा सुहाई॥"

और

"माई री मोहिं कोउ न समुझावै ।
राम गवन मों सांचि धौं सपनो मन परतीति न आवै ॥"

के द्वारा कौशिल्या की व्यथा जानी जा सकती है और इस प्रकार यदि कौशिल्या "मर घोई मृतक रह्यो' समझकर पश्चात्ताप करती हैं तो उधर "यमुन जल में धँसने की यशोदा भी सोच रही हैं ।" अगर 'गायों के लिए' ब्रजवासी श्याम को एक बार बुलाना चाहते हैं, तो कौशिल्या भी—

"राघौ एक बार फिर आवौ ।
ए बर बाजि बिलोकि आपने बहुरो बनहिं सिधावौ ॥"

राम को उनके द्वारा पालित घोड़ों को एक बार देखने के लिए आने की प्रार्थना करती हैं । गोपियों के प्रसंग में भी उनका विरह-वर्णन यद्यपि अत्यधिक है, और सीता का नाट्य ही-सा —तथापि सीता की वियोग-व्यथा कम नहीं है—

"कपि कबहूँ राघव आवहिंगे ?
मेरे नयन चकोर प्रीति बस राका ससि मुख दिखरावहिंगे ?
× × ×
तुलसिदास प्रभु मोह जनित भ्रम भेद बुद्धि कब बिसरावहिंगे ?"

इस वियोग वर्णन में एक बात ध्यान देने की है कि गोपियों को ऊधव से यह उलाहना था कि 'स्याम' कदाचित उन्हें भूल गए हैं और कुब्जा-प्रेम में आसक्त हो गए हैं—उन्होंने हमारे प्रेम को प्राप्तकर अब हमें 'भ्रमर' के समान धोखा दिया है—वे विश्वासघाती हैं—आदि । तुलसी की सीता स्वप्न में भी राम के प्रति ऐसी भावना नहीं सोच सकतीं । यही तो उनके प्रेम की उत्कट गम्भीरता व उत्कृष्ट पवित्रता है कि वे रावण की उस पुरी में अकेली बन्दी होने पर भी राम की आशा लगाए बैठी

और उनकी यह आशा इसी प्रेम के बल पर ही फलीभूत
ती है—जिस प्रेम ने राम को लंका पर अकेले होते हुए भी
ढ़ाई करने को प्रेरित किया था। पर इधर कहते हैं थोड़ी दूर
र रहनेवाले कृष्ण के दर्शन को लालायित गोपियों की आकु
तता व उनकी तड़प क्या अकर्मण्यता की द्योतक नहीं है ? इस
विषय में एक बात कहनी है कि गोपियों को अपने प्रारम्भि
मुखर प्रेम के कारण अब वियोगावस्था में यह शंका होने
लगी है कि कदाचित् कृष्ण उन्हें नहीं चाहते। इसी से वे
मथुरा नहीं जा सकीं। प्रेम में शंका होने पर तो एक घर में
रहनेवाले व्यक्ति भी परस्पर एक-दूसरे को नहीं देखते, फिर
मथुरा तो चार कोस पर थी। इस प्रसंग में एक बात और
भी विचारणीय है कि गोपियों ने अपने विरह-वर्णन में
ऊधव से सब कुछ कहा—पर राधा ने कुछ नहीं कहा—
और कदाचित् इसी कारण से कतिपय विद्वान् राधा के प्रेम
की गंभीरता का भान करते हैं। इस प्रकार प्रेम के वियोग
संयोग वर्णन में सूर व तुलसी में बहुत कुछ साम्य मिलता है
अब यदि दोनों की भाषा पर ध्यान दें तो हमें अवश्य ह
अन्तर दृष्टिगत होता है। सूर की ब्रज-भाषा बोली के माधुर्य
से युक्त है—और उनके काव्य में केवल ब्रज-भाषा ही मिलती
है। जायसी ने ग्रामीण अवधी लिखी; पर तुलसी ने अवधी
व ब्रज-भाषा दोनों पर समान अधिकार दिखलाया है तथा
दोनों में माधुर्य व परिष्कृति पूर्णरूपेण विद्यमान है। छन्द-
पद्धतियों की दृष्टि से भी तुलसी का अधिकार अधिक व्यापक
है। प्रबंध-काव्य, प्रेम-गांभीर्य, लोकरंजन-भावना, राम का
संपूर्ण चित्रण, जनसाधारण की कल्याण-कामना आदि की
दृष्टि से तुलसी का व्यापक महत्त्व स्पष्ट लक्षित होता है। पर
में यह दृष्टव्य है कि सूर एक संप्रदाय में दीक्षित थे,

और फिर अंधे थे—जायसी के भी दो नहीं तो एक आँख तो अवश्य ही थी, पर बेचारे सूर के चर्म-चक्षु न थे तथा विद्याभ्यास भी उनका नगण्य-सा ही था। इधर तुलसी का अध्ययन विस्तृत था। वे वस्तुतः योग्य पंडित थे। प्रारंभिक अवस्था यद्यपि दोनों की बड़ी ही दुःखद थी। तुलसी तो अनाथ थे। उन्हें सभी ने छोड़ दिया था। सूर को वल्लभाचार्य ऐसा

हैं और उनकी यह आशा इसी प्रेम के बल पर ही फलीभूत होती है—जिस प्रेम ने राम को लंका पर अकेले होते हुए भी चढ़ाई करने को प्रेरित किया था। पर इधर कहते हैं थोड़ी दूर पर रहनेवाले कृष्ण के दर्शन को लालायित गोपियों की आकुलता व उनकी तड़प क्या अकर्मण्यता की द्योतक नहीं है? इस विषय में एक बात कहनी है कि गोपियों को अपने प्रारम्भिक मुखर प्रेम के कारण अब वियोगावस्था में यह शंका होने लगी है कि कदाचित् कृष्ण उन्हें नहीं चाहते। इसी से वे मथुरा नहीं जा सकीं। प्रेम में शंका होने पर तो एक घर में रहनेवाले व्यक्ति भी परस्पर एक-दूसरे को नहीं देखते, फिर मथुरा तो चार कोस पर थी। इस प्रसंग में एक बात और भी विचारणीय है कि गोपियों ने अपने विरह-वर्णन में ऊधव से सब कुछ कहा—पर राधा ने कुछ नहीं कहा—और कदाचित् इसी कारण से कतिपय विद्वान् राधा के प्रेम की गंभीरता का भान करते हैं। इस प्रकार प्रेम के वियोग-संयोग वर्णन में सूर व तुलसी में बहुत कुछ साम्य मिलता है। अब यदि दोनों की भाषा पर ध्यान दें तो हमें अवश्य ही अन्तर दृष्टिगत होता है। सूर की व्रज-भाषा बोली के माधुर्य से युक्त है—और उनके काव्य में केवल व्रज-भाषा ही मिलती है। जायसी ने ग्रामीण अवधी लिखी; पर तुलसी ने अवधी व व्रज-भाषा दोनों पर समान अधिकार दिखलाया है तथा दोनों में माधुर्य व परिष्कृति पूर्णरूपेण विद्यमान है। छन्द-पद्धतियों की दृष्टि से भी तुलसी का अधिकार अधिक व्यापक है। प्रबंध-काव्य, प्रेम-गांभीर्य, लोकरंजन-भावना, राम का संपूर्ण चित्रण, जनसाधारण की कल्याण-कामना आदि की दृष्टि से तुलसी का व्यापक महत्त्व स्पष्ट लक्षित होता है। पर इस विषय में यह द्रष्टव्य है कि सूर एक संप्रदाय में दीक्षित थे,

और फिर अंधे थे—जायसी के भी दो नहीं तो एक आँख तो अवश्य ही थी, पर बेचारे सूर के चर्म-चक्षु न थे तथा विद्याभ्यास भी उनका नगण्य-सा ही था। इधर तुलसी का अध्ययन विस्तृत था। वे वस्तुतः योग्य पंडित थे। प्रारंभिक अवस्था यद्यपि दोनों की बड़ी ही दुःखद थी। तुलसी तो अनाथ थे। उन्हें सभी ने छोड़ रखा था। सूर को वल्लभाचार्य ऐसा महान् गुरु व संरक्षक मिला था—पर तुलसी को ऐसा कोई अभिभावक नहीं मिल पाया। फिर भी दोनों महात्माओं की भक्ति अपूर्व थी और दोनों महाकवियों का काव्य महान् व अतुलनीय है—उसमें समता व विषमता का प्रश्न ही खड़ा नहीं होता।

उपसंहार—अपनी बंद आँखों से सूर ने प्रभु की अनुपम छटा देख ली थी और उन्होंने नेत्रहीन होने पर भी वह अद्भुत सागर हमारे सामने लहरा दिया है कि नेत्रवाले हम लोग उसका अवगाहन भी नहीं कर पाते। सूरसागर वास्तव मे एक सागर है—हो सकता है उसमें सागर के समान मोतियों के साथ सीप व घोंघे भी हों—क्योंकि अंधे होने के कारण पुनरावृत्तियों अथवा भाषा की किंचित् भूलों का वे परिहार नहीं कर सके, पर गोता लगानेवाले भावुक उसमें से मोती ही निकालेंगे अन्यथा अन्य साधारण पनडुब्बों को तो सीप और घोंघे ही हाथ में लगेंगे। सूर का राधा-प्रेम अद्वितीय रहा—सूर ने अपनी राधा का चित्रण भी अन्य कवियों की अपेक्षा अच्छा किया है। सूर की राधा, न तो जयदेव की राधा के समान प्रगल्भा है, न विद्यापति की राधा के समान किशोरी और न चंडीदास की राधा के समान श्याम-नाम पर पागल होनेवाली तथा प्रिय प्रवास की राधा के समान वे कोरी लोक-सेविका भी नहीं। वे तो बालिका हैं, भोरी हैं, ग्वालिनी हैं और शोभा उन पर निवछावर होती है। स्वयं त्रिलोकीनाथ

उनकी एक चितवन के कृपाकांक्षी हैं। सूर की राधा चंचल न होते हुए भी मानिनी हैं। सूर की गोपियाँ अनन्य प्रेमिकायें हैं। सूर के कृष्ण की मुरली योगमाया है। मातृ-हृदय की सच्ची पहचान रखनेवाले सूर ने यशोदा-चित्रण में हृदय खोलकर रख दिया है। बाल-लीला का स्वाभाविक चित्रण, मातृ-हृदय की पहचान, प्रेम व विरह की भव्य विराटमयी कल्पना, जन-भाषा के द्वारा भारतीय जनता में स्वयं घुल मिल जानेवाले संगीताचार्य, वाग्विदग्ध महात्मा सूरदास हिन्दी साहित्य के कर्णधार हैं। उनके नाम का प्रचार इतना अधिक हो उठा है कि आज साधारण अंधा भी अपने को सूरदास कहलाना अधिक पसंद करता है। सूर व तुलसी के विषय में अनेक व्यक्तियों ने अनेक तुकें मिलाई हैं—कोई सूर को सूर, तुलसी को शशि, मानता है तो कोई दोनों को सार कहनेवाला। संक्षेप में उनके विषय में कही जानेवाली तुकबंदियाँ निम्नांकित हैं :—

"सूर सूर तुलसी ससी, उडुगन केसवदास।"

× × × ×

"तत्व तत्व सूरा कही, तुलसी कही अनूठ।"

× × × ×

"किधौं सूर को पद लग्यो, तन मन धुनत सरीर।"

× × × ×

"कविता करता तीन हैं तुलसी, केसव, सूर।" —इत्यादि पर महात्मा सूरदास के लिए ऐसी सूक्तियों की आवश्यकता नहीं। सूर को ऐसी दीपकोक्तियों के दिखाने से क्या लाभ हो सकता है। वे स्वयं ही प्रकाशमान हैं। हिन्दी साहित्य-रथ के महान् महारथी सूर तमसावृत्त मार्ग को अक्षुण्ण ज्योति से आलोकित करनेवाले प्रातःस्मरणीय महात्मा हैं।

———

सङ्कलन

प्रस्तुत संकलन में संकलित पद यथासंभव सभी प्रकार के शुद्ध-संस्करण वाले सूर-सम्बन्धी ग्रंथों से संगृहीत हुए हैं। इनके संकलन में इस बात का भी ध्यान रखा गया है कि सूर के सागर से सुन्दर मोती निकाले जायें जिनकी आभा से भावुकों का हृदय प्रदीप्त हो उठे। यथासंभव उत्कृष्ट किंतु सरस पदों का इसमे समावेश किया गया है जिससे सूर-साहित्य के अध्ययन मे पाठकों की रुचि उत्पन्न हो सके।

भक्ति

(१)

अविगत गति कछु कहत न आवै ।
ज्यों गूँगे मीठे फल कौ रस अंतरगत ही भावै ॥
परम स्वाद सब ही सु निरन्तर अमित तोष उपजावै ।
मन बानी कौं अगम अगोचर सो जानै जो पावै ॥
रूप रेख गुन जाति जुगति बिनु निरालम्ब मन चकृत धावै ।
सब बिधि अगम विचारहिं तातें सूर सगुन लीला पद गावै ।

× × × ×

(२)

मेरो मन अनत कहाँ सचुपावै ।
जैसे उड़ि जहाज की पंछी, फिरि जहाज पर आवै ॥
कमलनैन को छाँड़ि महातम, और देव को धावै ?
परम गंग को छाँड़ि पियासो, दुर्मति कूप खनावै ॥
जिन मधुकर अंबुज-रस चाख्यो क्यों करील-फल खावै !
सूरदास प्रभु कामधेनु तजि, छेरी कौन दुहावै ॥

× × × ×

(३)

कृपा अब कीजिए बलि जाउँ।
नाहिन मेरे और कोउ बलि, चरण कमल बिन ठाउँ॥
हौं असोच अकृत अपराधी सनमुख होत लजाउँ।
तुम कृपालु करुणानिधि केशव अधम उधारन नाउँ॥
काके द्वार जाइ होउँ ठाढ़ो देखत काहि सुहाउँ।
अशरण शरण नाम तुमरो हौं कामी कुटिल सुभाउँ॥
कलुषी अरु मन मलिन बहुत मैं मत मैंत न बिकाउँ।
सूर पतित पावन पद-अंबुज क्यों सो परिहरि जाउँ॥

× × × ×

(४)

अब मैं नाच्यों बहुत गुपाल।
काम क्रोध को पहिरि चोलना कंठ विषय की माल॥
महामोह के नूपुर बाजत निंदा शब्द रसाल।
भरम भरयो मन भयो पखावज चलत कुसंगत चाल॥
तृष्णानाद करत घट भीतर नाना विधि दै ताल।
माया को कटि फैंटा बाँध्यो लोभ तिलक दियो भाल॥
कोटिक कला कॉछि दिखराई जल-थल सुधि नहिं काल।
सूरदास की सबै अविद्या दूर करहु नँदलाल॥

× × × ×

(५)

तुम्हारी भक्ति हमारे प्रान।
छूटि गये कैसे जन-जीवत ज्यों पानी बिन प्रान॥
जैसे मगन नाद सुनि सारँग बधत बधिक तनु बान।
ज्यों चितवे शशि ओर चकोरी देखत ही सुख मान।
जैसे कमल होत परिफुल्लित देखत दरशन भान।
सूरदास प्रभु हरि गुण मीठे नित प्रति सुनियत कान॥

× × × ×

(६)

जो सुख होत गोपालहिं गाये ।
सो नहिं होत जप-तप के कीने कोटिक तीरथ न्हाये ॥
दिये लेत नहिं चारि पदारथ चरण-कमल चित लाये ।
तीन लोक तृण सम करि लेखत नँद-नंदन उर आये ॥
वंशीवट वृन्दावन यमुना तजि वैकुंठ को जाये ।
सूरदास हरि को सुमिरन करि बहुरि न भव चलि आये ॥

× × ×

(७)

सोइ रसना जो हरि गुण गावै ।
नैनन की छवि यहै चतुरता ज्यों मकरंद मुकुंदहि ध्यावै ॥
निर्मल चित्त तौ सोई साँचो कृष्ण बिना जिय और न भावै
श्रवणनि की जु यहै अधिकाई सुनि रस कथा सुधारस प्यावै
कर तेई जो श्यामहिं सेवै चरणनि चलि वृन्दावन जावै ।
सूरदास जैये बलि ताके जो हरि जू से प्रीति बढ़ावै ॥

× × ×

(८)

जो मन कबहुँक हरि को जाँचै ।
आन प्रसंग उपासना छाँड़ै मन बच क्रम अपने उर साँचै ॥
निशि दिन श्याम सुमिरि यश गावै कलपन मेटि प्रेमरस पाचै
यह व्रत धरै लोक में विचरै सम करि गनै महामणि काचै ॥
शीत उष्ण सुख-दुख नहिं मानै हानि भये कछु शोच न रांचै
जाइ समाइ सूर वा निधि में बहुरि न उलटि जगत में नाचै ।

×

(९)

है हरि नाम को आधार।
और इहि कलिकाल नाहीं रह्यो विधि व्यवहार॥
नारदादि शुकादि मुनि मिलि कियो बहुत विचार।
सकल श्रुति दधि मथित काढ्यो इतोई घृत सार॥
दशोदिशि तें कर्म रोक्यो मीन को ज्यों वार।
सूरि हरि को सुयश गावत जाहि मिटै भव-भार॥

× × ×

(१०)

जा दिन मन-पंछी उड़ि जहै।
ता दिन तेरे तन-तरुवर के सबै पात झरि जैहै॥
घर के कहैं वेगि ही काढ़ो, भूत भए कोउ खैहै।
जा प्रीतम सों प्रीति घनेरी, सोऊ देखि डरैहै॥
कहँ वह ताल कहाँ वह सोभा, देखत धूरि उड़ैहै।
भाई-बंधु अरु कुटुँब कबीला, सुमिरि-सुमिरि पछितैहै॥
बिनु गोपाल कोउ नहिं अपुनो, जस अपजस रहि जैहै।
सो सुख सूर जु दुरलभ देवन को सतसंगति में पैहै॥

× × × ×

(११)

री तो गति पति तुम अंतहि दुख पाऊँ।
कहाय तिहारो अब कौन को कहाऊँ॥
मधेनु छाँड़ि कहा अजा जा दुहाऊँ।
गयंद उतरि कहा गर्दभ चढ़ि धाऊँ॥
रन मनि खोलि डारि काँच गर बँधाऊँ।
कुम को तिलक मेटि काजर मुख लाऊँ॥
म्बर अंबर तजि, गूदर पहिराऊँ।
ग फल छाँड़ि कहा सेंवर को धाऊँ॥
गर की लहर छाँड़ि खार कत अन्हाऊँ।

(१२)

जाको मन लाग्यो नँदलालहिं ताहि और नहिं भावै।
ज्यों गूँगो गुर खाइ अधिक रस सुख सवाद न बतावै
जैसे सरिता मिलै सिंधु को बहुरि प्रवाह न आवै है
ऐसे सूर कमल-लोचन ते चित नहिं अनत डुलावै हो

× × × ×

(१३)

सबै दिन एक से नहिं जात।
सुमिरन ध्यान कियो करि हरि को जब लगि तन कुमलात॥
कबहुँ कमला चपला पाके टेढ़े-टेढ़े जात।
कबहुँक मग-मग धूरि टटोरत, भोजन को बिलखात॥
या देही के गर्व बावरो तदपि फिरत इतरात।
बाद-बिवाद सबै दिन बीते खेलत ही अरु खात॥
हौं बड़ हौं बड़ बहुत कहावत सूधे कहत न बात।
जोग न जुक्ति ध्यान नहिं पूजा वृद्ध भये अकुलात॥
बालापन खेलत ही खोयो तरुणापन अलसात।
सूरदास औसर के बीते रहिहौ पुनि पछतात॥

× × × ×

(१४)

कह्यो शुक श्री भागवत विचारि।
हरि की भक्ति विरद है युग-युग आन धर्म दिन चारि॥
पिता सजो परीक्षित राजा मन सुख मानि हमारि।
कमलनयन की लीला गावत कटत अनेक विकारि॥
सतयुग सत, त्रेता तप कीनो, द्वापर पूजा चारि।
सूर भजन कलि केवल कीजे लज्जा कानि निवारि।'

× × × ×

नमो-नमो करुणानिधान।
चितवत कृपा कटाक्ष तुम्हारी मिटि गयो तम अज्ञान॥
मोह निसा को लेश रह्यो नहिं भयो विवेक विहान।
आतम रूप सकल घट दरस्यो उदय कियो रवि ज्ञान॥
मैं मेरी अब रही न मेरे छुट्यो देह अभिमान।
भावै परो आजु ही यह तनु भावै रहो अमान॥
मेरे जिय अब यहै लालसा लीला श्री भगवान।
श्रवण करौं निसिवासर हित सों सूर तुम्हारी आन॥

× × × ×

वात्सल्य

(१६)

हाँ इक नई बात सुनि आई।
महरि जसोदा ढोटा जायौ, घर-घर होति बधाई।
द्वारैं भीर गोप-गोपिनि की, महिमा बरनि न जाई
अति आनंद होत गोकुल में, रतन भूमि सब छाई
नाचत वृद्ध, तरुन अरु बालक, गोरस-कीच मचाई
सूरदास स्वामी सुख-सागर, सुन्दर स्याम कन्हाई

× × ×

(१७)

जसोदा हरि पालनैं झुलावै।
हलरावै, दुलराइ मल्हावै, जोइ, सोइ कछु गावै।
मेरे लाल कौं आउ निंदरिया, काहैं न आनि सुवा
तू काहैं नहिं बेगहिं आवै, तोकौं कान्ह बुलावै॥
कबहुँ पलक हरि मूँदि लेत हैं, कबहुँ अधर फरका
सोवत जानि मौन ह्वै कै रहि, करि-करि सैन बता
इहिं अंतर अकुलाइ उठे हरि, जसुमति मधुरैं गावै
जो सुख सूर अमर-मुनि दुर्लभ, सो नँद-भामिनि

(१८)

जसुदा मदन गुपाल सुवावै ।
देखि सयन-गति त्रिभुवन कंपै, ईस बिरंचि भ्रमावै ॥
असित-अरुन-सित आलस लोचन उभय पलक परि आवै ।
जनु रवि गत संकुचित कमल जुग, निसि अलि उड़न न पावै ॥
स्वाँस उदर उससित यौं, मानौ दुग्ध-सिंधु छवि पावै ।
नाभि-सरोज प्रगट पदमासन, उतरि नाल पछितावै ॥
कर सिर-तर करि स्याम मनोहर, अलक अधिक सोभावै ।
सूरदास मानौ पन्नगपति, प्रभु ऊपर फन छावै ॥

× × × ×

(१९)

सुत मुख देखि जसोदा फूली ।
हरषित देखि दूध की दँतियाँ, प्रेम मगन तन की सुधि भूली ॥
बाहिर तैं तब नंद बुलाए, देखौ धौं सुन्दर सुखदाई ।
तनक-तनक-सी दूध-दँतुलियाँ, देखौ नैन सफल करौ आई ॥
आनंद सहित महर तब आए, मुख चितवत दोउ नैन अघाई ।
सूर स्याम किलकत द्विज देख्यो, मनो कमल पर बिज्जु जमाई ॥

× × ×

(२०)

लाल हौं वारी तेरे मुख पर ।
कुटिल अलक, मोहनि-मन बिहँसनि, भृकुटी बिकट ललित नैननि पर ॥
दमकति दूध-दँतुलिया बिहँसत, मनु सीपज घर कियो बारिज पर ।
लघु-लघु लट सिर घूँघरवारी, लटकन लटकि रह्यो माथैं पर ॥
यह उपमा कापै कहि आवै, कछुक कहौं सकुचित हौं जिय पर ।
नवतन चंद्र रेख मधि राजत, सुरगुरु-सुक्र-उदोत परसपर ॥
लोचन लोल कपोल ललित अति, नासा कौ मुकता रदछद पर ।
न्यौछावर करियै अपने लाल ललित लर ऊपर ॥

× × × ×

(२१)

सोभित जात माखन खात।
अरुन लोचन, भौंह टेढ़ी, बार-बार जँभात॥
कबहुँ रुन-झुन चलत घुटुरुनि, धूरि धूसर गात।
कबहुँ झुकि कै अलक खैंचत, नैन जल भरि जात॥
कबहुँ तोतरे बोल बोलत, कबहुँ बोलत तात।
सूर हरि की निरखि सोभा, निमिष तजत न मात॥

× × ×

(२२)

कहाँ लौं बरनौं सुन्दरताइ?
खेलत कुँवर कनक-आँगन मे नैन निरखि छवि पाइ
कुलही लसति सिर स्याम सुँदर कै, बहुविधि सुरँग र
मानौ नवघन ऊपर राजत मघवा धनुष चढ़ाइ॥
अति सुदेस मृदु हरत चिकुर मन मोहन मुख बगरा
मानौ प्रगट कंज पर मंजुल अलि-अवली फिरि आ
नील, सेत, अरु पीत, लालमनि लटकन भाल रुनाइ
सनि, गुरु-असुर, देवगुरु मिलि मनु भौम सहित स
दूध दंत दुति कहि न जाति कछु, अद्भुत उपमा पा
किलकत हँसत दुरति प्रगटति मनु, घन में बिज्जु छ
खंडित बचन देत पूरन सुख अलप-अलप जलपाइ।
घुटुरुनि चलत रेनु तन मंडित सूरदास बलि जाइ।

× × ×

(२३)

भीतर तें बाहर लौं आवत।
घर आँगन अति चलत सुगम भये, देहरि अँटकावत ॥
गिर-गिर परत जात नहिं उलँघी, अति स्रम होत नघावत।
अहुठ पैग बसुधा सब कीनी, धाम अवधि बिरमावत ॥
मन ही मन बलबीर कहत हैं, ऐसे रंग बनावत।
सूरदास-प्रभु अगनित-महिमा, भगतिन कैं मनभावत ॥

× × ×

(२४)

कलबल कै हरि आरि परे।
नव रँग विमल नवीन जलधि पर, मानहुँ द्वै ससि आनि अरे।
जे गिरि कमठ सुरासुर सर्पहिं धरत न मन में नैंकु डरे।
ते भुज-भूषन-भार परत कर गोपिनि के आधार धरे ॥
सूर स्याम दधि भाजन भीतर निरखत मुख मुख तैं न टरे।
बिबि चंद्रमा मनौ मथि काढ़े, बिहँसनि मनहुँ प्रकास करे ॥

× × × ×

(२५)

जब दधि-सुत हरि हाथ लियौ।
खगपति-अरि डर, असुरनि-संका, बासर-पति आनंद कियौ ॥
विदुखि सिंधु सकुचत, सिव सोचत, गरलादिक किमि जात पियौ!
अति अनुराग संग कमला-तन, प्रफुलित अँग न समात हियौ ॥
एकनि दुख, एकनि सुख उपजत, ऐसो कौन विनोद कियौ।
सूरदास प्रभु तुम्हरे गहत ही एक-एक तें होत बियौ ॥

× × ×

(२६)

गोपाल राइ दधि माँगत अरु रोटी।
माखन सहित देहि मेरी मैया, सुपक सुकोमल रोटी॥
कत हौ आरि करत मेरे मोहन तुम आँगन में लोटी।
जो चाहौ सो लेहु तुरत हीं, छाँड़ौ यह मति खोटी॥
करि मनुहारि कलेऊ दीन्हौ, मुख चुपरयौ अरु चोटी।
सूरदास कौ ठाकुर ठाढ़ौ, हाथ लकुटिया छोटी॥

× × × ×

(२७)

हरि अपनैं आँगन कछु गावत।
तनक-तनक चरननि सौं नाचत, मनहीं मनहिं रिझावत॥
बाँह उठाइ काजरी धौरी गैयनि टेरि बुलावत।
कबहुँक बाबा नंद पुकारत, कबहुँक घर में आवत॥
माखन तनक आपनैं कर लै, तनक-बदन में नावत।
कबहुँ चितै प्रतिबिंब खंभ में, लोनी लिए खवावत॥
दूरि देखति जसुमति यह लीला, हरष अनंद बढ़ावत।
सूर स्याम के बाल-चरित, नित नित ही देखत भावत।

× × × ×

(२८)

मैया री मैं चंद लहौंगौ।
कहा करौं जलपुट भीतर कौ बाहर ब्योंकि गहौंगौ॥
यह तौ झलमलात झकझोरत, कैसैं कै जु लहौंगौ।
वह तौ निपट निकट हीं देखत, बरज्यौ हौं न रहौंगौ।
तुम्हरौ प्रेम प्रगट मैं जान्यौ, बौराए न बहौंगौ।
सूर स्याम कहै कर गहि ल्याऊँ, ससि तन-ताप दहौंगौ॥

× × × ×

(२९)

...सुत मुख देखि डरत ससि भारी
कर करि के हरि हेर्‌यो चाहत, ...
पै ससि तौ कैसेंहु नहिं आवत, .
बदन देखि विधु-बुधि सकोत मन, .
सुनौं स्याम तुमकौं ससि डरपत, यहै कहत मैं सरन तुम्हारी
सूर स्याम बिरुझाने सोए, लिए लगाइ छतिया महतारी
× × ×

(३०)

जसुमति मन-मन यहै विचारति।
झझकि उठ्यौ सोवत हरि अबहीं, कछु पढ़ि-पढ़ि तन-दोष निवारति
खेलत में कोउ दीठि लगाई, लै-लै राई लोन उतारति।
आँखिहिं तें अतिही बिरुझानो, चदहि देखि करी अति आरति
बार-बार कुल देव मनावति, दोउ कर जोरि सिरहि लै धारति
सूरदास जसुमति नँदरानी, निरखि बदन त्रयताप बिसारति।

× × × ×

(३१)

प्रात भयौ जागौ गोपाल।
नवल सुन्दरी आईं, बोलत तुमहिं सबै ब्रजबाल॥
प्रगट्यौ भानु, मंद भयो उड़पति फूले तरुन तमाल।
दरसन कौं ठाढी ब्रज-बनिता, गूँथि कुसुम बनमाल॥
मुखहिं धोइ सुन्दर बलिहारी, करहु कलेऊ लाल।
सूरदास प्रभु आनंद के निधि, अम्बुज नैन बिसाल॥

× × × ×

(३२)

मैया मोहिं दाऊ बहुत खिजायौ।
मोसौं कहत मोल कौ लीन्हो तू जसुमति कब जायौ ?
कहा करौं इहि रिस के मारें, खेलन हौं नहि जात।
पुनि-पुनि कहत कौन है माता, को है तेरो तात॥
गोरे नंद जसोदा गोरी तू कत स्यामल गात।
चुटकी दै-दै ग्वाल नचावत हँसत सबै मुसकात॥
तू मोहीं को मारन सीखी, दाउहिं कबहुँ न खीझै।
मोहन मुख रिस की ये बातें जसुमति सुनि-सुनि रीझै॥
सुनहु कान्ह बलभद्र चबाई, जनमत ही कौ धूत।
सूर स्याम मोहिं गोधन की सौं, हौं माता तू पूत॥

× × × ×

(३३)

खेलन कौं हरि दूरि गयो री।
संग-संग धावत डोलत हैं, कह धौं बहुत अबेर भयो री॥
पलक ओट भावत नहिं मोकौं, कहा कहौं तोहिं बात!
नंदहिं तात-तात कहि बोलत मोहिं कहत है मात॥
इतनी कहत स्यामघन आए ग्वाल सखा सब चीन्हे।
दौरि जाइ उर लाइ सूर प्रभु, हरषि जसोदा लीन्हे॥

× × × ×

(३४)

साँझ भई घर आवहु प्यारे।
दौरत कहा चोट लगिहै कहुँ, पुनि खेलिहौ सकारे॥
आपुहि जाइ बाँह गहिल्याई, खेह रही लपटाइ।
धूरि झारि तातो जल ल्याई, तेल परसि अन्हवाइ॥
सरस बसन तन पोंछि स्याम कौं, भीतर गई लिवाइ।
सूर स्याम कछु करौ बियारी, पुनि राखौं पौढ़ाइ॥

× × × ×

(३५)

बोलि लेहु हलधर भैया कौं।
मेरे आगे खेल करौ कछु, सुख दीजै मैया कौं॥
मैं मूँदौं हरि आँखि तुम्हारी बालक रहैं लुकाई।
हरपि स्याम सब सखा बुलाये खेलन आँखिमुदाई॥
हलधर कह्यो आँखि को मूँदे, हरि कह्यो मातु जसोदा।
सूर स्याम लए जननि खिलावत, हरप सहित मनमोदा॥

× × × ×

(३६)

खेलत मैं को काको गुसैयाँ।
हरि हारे जीते श्रीदामा बरबस हीं कत करत रिसैयाँ॥
जाति-पाँति हमतैं बड़ नाहीं, नहिं बसत तुम्हारी छैयाँ।
अति अधिकार जनावत यातैं, अधिक तुम्हारे हैं कछु गैयाँ॥
रुहठि करै तासौं को खेलै, रहे बैठि जहँ-तहँ सब ग्वैयाँ।
सूरदास प्रभु खेल्यौइ चाहत, दाउँ दियौ करि नंद-दुहैयाँ॥

× × × ×

(३७)

पाँड़े नहिं भोग लगावन पावै।
करि-करि पाक जबै अर्पत है, तब ही तब छ्वै आवै॥
इच्छा करि मैं बाम्हन न्यौत्यौ, ताकौ स्याम खिझावै।
वह अपने ठाकुरहि जिवावै, तू ऐसै उठि धावै॥
जननी दोष देति कत मोकौं, बहु विधान करि ध्यावै।
नैन मूँद कर जोरि, नाम लै बारहिं बार बुलावै॥
कहि अंतर क्यों होइ भक्त सौं जो मेरे मन भावै?
सूरदास बलि-बलि बिलास पर जन्म-जन्म जस गावै॥

× × × ×

(३८)

मोहन काहैं न उगिलौ माटी।
बार-बार अनरुचि उपजावति, महरि हाथ लिए साँटी॥
महतारी सौं मानत नाहीं, कपट चतुरई ठाटी।
बदन उघारि दिखायौ अपनौ, नाटक की परिपाटी॥
बड़ी बार भई लोचन उघरे, भरम जवनिका फाटी।
सूर निरखि नँदरानि भ्रमित भई, कहति न मीठी खाटी॥

× × × ×

(३९)

नंद करत पूजा, हरि देखत।
घंट बजाइ देव अन्हवायौ, दल चंदन लै भेटत॥
पट अंतर दै भोग लगायौ, आरति करी बनाइ।
कहत कान्ह बाबा तुम अरप्यौ, देव नहीं कछु खाइ॥
चितै रहे तब नंद महरि-मुख सुनहुँ कान्ह की बात।
सूर स्याम देवनि कर जोरहु, कुसल रहै जिहि गात।

× × × ×

(४०)

जसुदा देखति है ढिग ठाढ़ी।
बाल दसा अवलोकि स्याम की प्रेम मगन चित बाढ़ी ॥
पूजा करत नंद रहे बैठे, ध्यान समाधि लगाई।
चुपकहिं आनि कान्ह मुख मेल्यौ, देखौं देव बड़ाई ॥
खोजत नंद चकित चहुँ दिसि तैं अचरज सौं कछु भाई।
कहाँ गए मेरे इष्ट देवता को लै गयो उठाई ॥
तब जसुमति सुत-मुख दिखरायौ, देखौं बदन कन्हाई।
मुख कत मेलि देवता राख्यौ, घालै सबै नसाई ॥
बदन पसारि सिला जब दीन्हीं, तीनौ लोक दिखाए।
सूर निरखि मुख नंद चकित भए, कछू बचन नहिं आए ॥

× × × ×

———

शृङ्गार

(४१)

फूली फिरति ग्वालि मन में री।
पूछति सखी परस्पर बातें, पायौ परथौ कछू कहुँ तैं री ?
पुलकति रोम-रोम गदगद, मुख बानी कहत न आवै।
ऐसो कहा आहि सो सखिरी, हम कौं क्यौं न सुनावै॥
तन न्यारौ जिय एक हमारौ, हम तुम एकै रूप।
सूरदास कहै ग्वालि सखिनि सौं, देख्यो रूप अनूप॥

× × × ×

(४२)

प्रथम करी हरि माखन चोरी।
ग्वालिनि मन इच्छा करि पूरन, आपु भजे ब्रज-खोरी॥
मन में यहै बिचार करत हरि, ब्रज घर-घर सब जाउँ।
गोकुल जनम लियौ सुख-कारन, सबकैं माखन खाउँ॥
बाल-रूप जसुमति मोहिं जानै, गोपिनि मिलि सुख-भोग।
सूरदास प्रभु कहत प्रेम सौं, ये मेरे ब्रज-लोग॥

× × × ×

(४३)

चली ब्रज घर-घरनि यह बात।
नंद सुत सँग सखा लीन्हे, चोरि माखन खात॥
कोउ कहति मेरे भवन भीतर अबहिं पैठे धाइ।
कोउ कहति मोहिं देखि द्वारें, उतहिं गए पराइ॥
कोउ कहति किहि भाँति हरि कौं, देखौं अपने धाम।
हेरि माखन देउँ आछौ, खाइ जितनौ स्याम॥
कोउ कहति मैं देख पाऊँ, भरि धरौं अँकवारि।
कोउ कहति मैं बाँधि राखौं, को सकै निरवारि!
सूर प्रभु के मिलन कारन, करति बुद्धि विचार।
जोरि कर विधि कौ मनावति पुरुष नंद कुमार॥

× × × ×

(४४)

ग्वालिनि उरहन कैं मिस आई।
नंद नँदनि तन मन हरि लीन्हौं, बिनु देखें छिन रह्यो न जाई॥
सुनहु महरि अपने सुत के गुन, कहा कहौं किहि भाँति बनाई।
चोली फारि, हार गहि तोर्‍यो, इन बातनि कहौं कौन बड़ाई॥
माखन खाइ खवायौ ग्वालनि, जो उबर्‍यौ सो दियो लुढ़ाई।
सुनहु सूर, चोरी सहि लीन्ही, अब कैसें स हि जात ढिठाई॥

× × × ×

(४५)

कबहिं करन गयौ माखन चोरी।
जानै कहा कटाच्छ तिहारे, कमलनैन मेरो इतनक सोरी॥
दै दै दगा बुलाइ भवन में, भुज भरि भैंटत उरज-कठोरी।
उर नख चिह्न दिखावत डोलति, कान्ह चतुर भये तू अति भोरी ?
आवति नितप्रति उरहन कैं मिस, चितै रहति ज्यों चंद चकोरी।
सूर सनेह ग्वालि मन अटक्यौ अन्तर प्रीति जाति नहिं तोरी॥

× × × ×

(४६)

मैया मैं नाहीं दधि खायो ।
ख्याल परै ये सखा सबै मिलि मेरे मुख लपटायो ॥
देखि तुही सींके पर भाजन, ऊँचे धरि लटकायो ।
हौं जु कहत नान्हें कर अपने मैं कैसे करि पायो ॥
मुख दधि पोंछि बुद्धि इक कीन्हीं दोना पीठि दुरायो ।
डारि साँटि, मुसकाइ जसोदा, स्यामहिं कंठ लगायो ॥
बाल विनोद मोद मन मोह्यो, भक्ति प्रताप दिखायो ॥
सूरदास जसुमति को यह सुख, सिव विरंचि नहिं पायो ॥
× × × ×

(४७)

राधा सखियन लई बोलाइ ।
चलहु यमुना जलहिं जैये चलीं सब सुख पाइ ॥
सबनि एक-एक कलस लीन्हों तुरत पहुँची जाइ ।
तहाँ देख्यो स्यामसुन्दर कुँवरि मन हरषाइ ॥
नंद नँदन देखि रीझे चितै रहे चितलाइ ।
सूर प्रभु की प्रिया राधा भरत जल मुसुकाइ ॥
× × × ×

(४८)

पर्यो तब ते ठगमूरि ठगौरी ।
देख्यो मैं यमुना-तट बैठ्यो ढोंट्यो यशुमति कोरी ॥
अति साँवरो भरयो सो साँचे कीन्हे चंदन-खोरी ।
मन्मथ कोटि-कोटि गहि वारों ओढ़े पीतपिछौरी ॥
दुलरी कंठ नयन रतनारे मो मन चितै हरयोरी ।
विकट भ्रकुटि की ओर कोर ते मन्मथ बाण धरयोरी ॥
दमकत दसन कनक कुंडल मुख मुरली गावत गौरी ।
श्रवणन सुनत देह गति भूली भई विकल मति बौरी ॥
नहिं कल परत बिना दरसन ते नयननि लगी ठगौरी ।
सूर स्याम चित टरत न नेकहु निसिदिन रहत लगौरी ॥
× × × ×

(४९)

कोऊ माई लैहै री गोपालहि।
दधि को नाम स्यामसुन्दर रस बिसर गई ब्रज बालहि
मटुकी सीस फिरनि ब्रजवीथिन बोलत वचन रसालहि।
उफनत तक्र चहुँ दिस चितवति चित्त लग्यो नँदलालहि।
हँसति रिसाति बोलावति बरजति देखहु उलटी चालहि
सूर स्याम बिनु और न भावै या बिरहिन बेहालहि॥

× ×

(५०)

चितवनि रोकेहुँ न रही।
स्यामसुन्दर सिन्धु सन्मुख सरित उमँगि बही॥
प्रेम सलिल प्रवाह भँवरनि मिलि कबहुँ न थाह लही
लोभ लहरि कटाच्छ घूँघट पट करार ढही॥
थके पल पथ, नाव धीरज परत नहिं न गही।
हिल मिलि सूर स्वभाव स्यामहिं फेरिहू न चही॥

× × ×

(५१)

हरि मुख निरखत नैन भुलाने॥
ये मधुकर रुचि पंकज लोभी ताही ते न उड़ाने
कुण्डल मकर कपोलनि के ढिग जनु रवि रैन बिहाने.
भ्रुव सुन्दर नैनन-गति निरखत खंजन मीन लजाने॥
अरुन अधर द्विज कोटि बज्र दुति ससि घन रूप समाने।
कुञ्चित अलक सिलीमुख मिलि मनु लै मकरन्द उड़ाने॥
तिलक ललाट कंठ मुकतावलि भूषन मनिमय साने।
सूर स्याम रस-निधि नागर के क्यों गुन जात बखाने॥

× × × ×

(५२)

देखिरी देखि मोहन ओर।
स्याम सुभग सरोज आनन चारु चित के चोर॥
नील तनु मनु जलद की छवि मुरलि सुर घनघोर।
दसन दामिनि लसति बसननि चितवनी झकझोर॥
स्रवन कुण्डल गंड-मंडल उदित ज्यों रवि भोर।
बरहि-मुकुट बिसाल माला इन्द्र धनु छवि थोर॥
धातु चित्रित वेष नटवर मुदित नवल किसोर।
सूर स्याम सुभाइ आतुर चितै लोचन कोर॥

× × × ×

(५३)

मेरो मन गोपाल हर्यो री।
चितवत ही उर पैठि नैन मग ना जानौं धौं कहा कर्यो री॥
माता-पिता पति बंधु सजन जन सखि आँगन सब भवन भर्यो री।
लोक वेद प्रतिहार पहरुआ तिनहू पै राख्यो न पर्यो री॥
धर्म धीर कुल कानि कुँची करि तेहि तारो दै दूरि धर्यो री।
पलक कपाट कठिन उर अन्तर इतेहु जतन कछुवै न सर्यो री।
बुधि विवेक बल सहित सच्यौ पचि सुधन अटल कबहूँ न टर्यो री।
लियो चुराइ चितै चित सजनी सूर सो मो तन जात जर्यो री।

× × × ×

(५४)

जब हरि मुरली नाद प्रकास्यो।
जंगम जड़ थावर चर कीन्हे पाहन जलज बिकास्यो॥
स्वर्ग पताल दसो दिसि पूरन ध्वनि आच्छादित कीन्हों।
निसिचर कल्प समान बढ़ाई गोपिन को सुख दीन्हों॥
मैमत भये जीव जल थल के तनु की सुधि न सँभार।
सूर स्याम मुख बैन मधुर सुनि उलटे सब ब्यवहार॥

× × × ×

(५५)

मानों माई घन-घन अन्तर दामिनि ।
घनदामिनि, दामिनि घन अन्तर, सोभित हरि ब्रज भामिनी
जमुन पुलिन मल्लिका मनोहर सरद सहाई जामिनि।
सुन्दर ससि गुन रूप राग निधि अंग-अंग अभिरामिनि ॥
रच्यौ रास मिलि रसिक राइसों मुदित भई ब्रजभामिनि।
रूपनिधान स्यामसुन्दर घन आनन्द मन विश्रामिनि ॥
खंजन मीन मराल हरन छवि भरी भेद गजगामिनि ।
को गति गुनहौ सूर स्याम सँग काम विमोह्यो कामिनि ॥

× × × ×

(५६)

रास रस मुरली ही तें जान्यौ ।
स्याम अधर पर बैठि नाद कियौ मारग चन्द्र हिरान्यौ ।
धरनि जीव जल थल के मोहे, नभ मंडल सुर थाके ।
तन द्रुम सलिल पवन गति भूले, स्रवन सब्द परयो जा
बच्यौ नहीं पाताल रसातल, कितिक उदै लौं भान ।
नारद सारद सिव यह भाखत, कछु तन रह्यौ न सयान
यह अपार रस रास उपायौ, सुन्यो न देख्यौ नैना ।
नारायन धुनि सुनि ललचाने स्याम अधर सुनि बैना।
कहत रमा सों सुनि-सुनि प्यारी, विहरत हैं घन स्याम ।
सूर कहाँ हमको वैसो सुख, जो विलसति ब्रज वाम ॥

× × × ×

(५७)

राधे हरि तेरो नाम विचारें।
तुम्हरेइ गुण ग्रन्थित करि माला रसनाकर र... ....
लोचन मूँदि ध्यान धरि दृढ करि नेक न पलक उघारें
अंग अंग प्रति रूप माधुरी उरतें नहीं बिसारें॥
ऐसो नेम तुम्हारो पिय के कह जिय निठुर तिहारे।
सूर स्याम मन-काम पुरावहु उठि चलि कहे हमारे।

× × ×

(५८)

चली धनुमान मनायो मानि।
अंचल ओट पहुप दिखरायो धरयो सीस पर पानि॥
शशि तन चितै नैन दोउ मूँदे मुख महँ अँगुरी आनि
सद्‌गुण चरित गुप्त की बातें मुसकाने जिय जानि॥
रेखा तीन भूमि पर खींची तृन तोरयो कर तानि।
सूरदास प्रभु रसिक शिरोमणि विलसहु स्याम सुजान

× × ×

(५९)

जबहीं रथ अक्रूर चढ़े।
तब रसना हरि नाम भाषिके लोचन नीर बढ़े।
महरि पुत्र कहि शोर लगायो तरु ज्यों धरनि लुटाइ।
देखत नारि चित्रसी ठाढ़ी चितये कुँवर कन्हाइ॥
इतनेहि में सुख दियो सबन को मिलिहैं अवधि बता
तनक हँसे मन दै युवतिन को निठुर ठगौरी लाइ॥
बोलत नहीं रहीं सब ठाढ़ी स्याम ठगी ब्रजनारी।
सूर तुरत मधुवन पग धारे धरनी के हितकारी॥

(६०)

बिछुरे भी ब्रजराज आजु इन नैनन तें परतीति गई ।
उठिन गई हरि संग तबहिं तें ह्वै न गई सखि स्याम म
रूपरसिक लालची कहावत सो करनी कछु वै न भई
साँचे क्रूर कुटिल ये लोचन विथा मीन छवि छीन लई
अब काहे जलमोचत सोचत समी गये ते सूल नई ।
सूरदास याही ते जड़ भये, इन पलकन हठि दगा दई ।

× × × ×

(६१)

मना हौं ऐसे ही मरि जैहौं ।
इहि आँगन गोपाल लाल को कबहुँक कनियाँ लैहौं ॥
कब वह मुख बहुरो देखौंगी कब वैसो सचु पैहौं ।
कब मो पै माखन माँगैंगे कब रोटी धरि देहौं ॥
मिलन आस तनु प्राण रहत हैं दिन दस मारग चैहौं ।
जो न सूर कान्ह आइहै तौ जाइ यमुन धँसि लैहौं ॥

× × × ×

(६२)

चले नंद ब्रज को समुहाय । उन्मुख , सम्मुख होग
गोप सखा हरि बोधि पठाये सबै चले अकुलाइ ॥
काहू सुधि न रही तन की कछु लटपटात परे पाँइ ।
गोकुल जात फिरत पुनि मधुवन मन पुनि उतहि चलाइ ॥
विरह सिंध में परे चेत बिनु ऐसेहि चले बहाइ ।
. छाँड़ि कै ब्रज आए नियराइ ॥

× × ×

(६३)

यशोदा कान्ह-कान्ह कै बूझै।
फूट न गईं तिहारी चारौं कैसे मारग सूझै॥
इक तनु जरो जात बिन देखे अब तुम दीने फूक।
यह छतियाँ मेरे कुँवर कान्ह बिनु फटि न गयी द्वै टूक
धृग तुम धृग वै चरण अहो पति अध बोलत उठि धाए।
सूर स्याम बिछुरन की हम पै देन बधाई आए॥

× × × ×

(६४)

सराहौं तेरो नंद हियो।
मोहन सौं सुत छाँड़ि मधुपुरी गोकुल आनि जियो॥
कहा कहौं मेरे लाल लड़ैते जब तू बिदा कियो।
जीवन प्रान हमारे ब्रज को बसुदेव छीनि लियो॥
कह्यो पुकारि पार पनिहारी बरजत गमन कियो।
सूरदास प्रभु स्याम लालधन ले पर हाथ दियो॥

× × × ×

(६५)

नंद ब्रज लीजै ठोंकि बजाइ।
देहु बिदा मिलि जाहिं मधुपुरी जहँ गोकुल के राइ॥
नैनन पंथ गयो क्यों सूझयो उलटि दियो जब पाइ।
सुत-बिरह में प्रान आपने तजे दसरथ राइ॥
भूमि मसान बिदित यह गोकुल मनहुँ धाइ-धाइ खाइ।
सूरदास प्रभु पास जाहिं हम देखें रूप अघाइ॥

× × × ×

(६६)

हौं तो माई मथुरा ही पै जैहौं ।
ासी ह्वै वसुदेव राइ की दरसन देखत रैहौं ॥
ाखि-राखि येते दिवसन मोहि कहा कियो तुम नीको ।
ोऊ तौ अक्रूर गये लै तनक खिलौना जीको ॥
ोहि देखि कै लोग हँसेगे अरु किन कान्ह हँसै ।
ार असीस जाइ दैहौं जिनि न्हातहु बार खसै ॥

× × ×

(६७)

सँदेसो देवकी सों कहियो ।
ौं तो धाइ तुम्हारे सुत की मया करत ही रहियो ॥
ादपि टेव तुम जानत उनकी तऊ मोहि कहि आवै ।
ातहि उठत तुम्हारे कान्ह को माखन रोटी भावै ॥
ल उबटनो अरु तातो जल ताहि देखि भजि जाते ।
ोइ-जोइ माँगत सोइ-सोइ देती क्रम-क्रम करि-करि न्हाते
ूर पथिक सुनि मोहि रैनि दिन वढ्यो रहत उर सोच ।
ारो अलक लड़ैतो मोहन ह्वै-ह्वै करत सँकोच ॥

× × ×

(६८)

ोरे कुँवर कान्ह बिनि सब कछु वैसेहि धरयो रहै ।
ो उठि प्रात होत लै माखन को कर नेति गहै ॥
ूने भवन यशोदा सुत के गुनि-गुनि सूल सहै ।
िन उठि घेरत ही घर ग्वारनि उरहन कोउ न कहै ॥
ो व्रज में आनन्द हुतो मुनि मनसा हू न गहै ।
ूरदास स्वामी बिनु गोकुल कौड़ी हू न लहै ॥

× × × ×

गोपाल बैरिनि भई कुंजें।
ा लगत तनु सीतल अब भई विषम अनल की पुंजें ॥
। यमुना तट खगरो, वृथा कमल फूलनि अलि गुंजें।
र घनसार सुमन दै दधिसुत किरनि भानु भई भुंजें ॥
थिक जाइ माधव सों मदन मारि कीन्हीं हम लुंजें।
प्रभु तुम्हरे दरस कों मग जोवत अँखियन भई धुंजें ॥

× × ×

(७०)

ा करि वहाँ की धात रोइ दियो।
देखि मारग में राधा बोलि लियो ॥
बीर कहाँ ते आयो हम जु प्रणाम कियो।
नंदिर पगु धारौ सुनि दुखियान तियो ॥
ठ हियो भरि आयो वचन कह्यो न दियो।
। अभिराम ध्यान मन भर-भर लेत हियो ॥

× × ×

(७१)

वयत कालिंदी अति कारी।
थिक कहियौ उन हरि सों भई विरह जुर जारी।
क ते परी धरनि धुकि तरँग तलफ तन भारी।
उपचार-न्यूर जल परी प्रसेद पनारी ॥
कच कुस कास पुलिन पर,पंकजु काजल सारी
मर मिस भ्रमत फिरत हैं दिसि-दिसि दीन दुख
न चकई ल्याँजे थकित हैं प्रेम मनोहर हारी।
प्रभु जोइ जमुन गति सोइ गति भई हमारी ॥

× × × ×

(७२)

प्रीति तो मरनोऊ न विचारै।
प्रीति पतंग ज्योति पावक ज्यौं जरत न आपु सँभारै॥
प्रीति कुरंग नाद स्वर मोहित वधिक निकट ह्वै मारे।
प्रीति परेवा उड़त गगन ते गिरत न आपु सँभारे॥
सावन मास पपीहा बोलत पिय-पिय करि जो पुकारै।
सूरदास प्रभु दरसन कारन ऐसी भाँति विचारै॥

× × ×

(७३)

सखीरी चातक मोहिं जियावत।
जैसेहि रैनि रटत हौं पिय-पिय तैसे हो वह पुनि-पुनि गावत॥
अतिहि सुकंठ, दाहु प्रीतम को, तारु जीभ मन लावत।
आपु न पीवत प्रेम सुधारस विरहिन बोलि पिआवत॥
जो ये पंछी सहाय न होते प्राण बहुत दुख पावत।
जीवन सकल सूर ताही को काज पराये आवत॥

× × ×

(७४)

हौं तौ मोहन के विरह जरी रे तू कत जारत।
रे पापी तू पंखि पपीहा पिउ-पिउ अध राति पुकारत॥
सब जग सुखी दुखी तू जल बिनु तऊ न तनु की बिथहिं विचारत।
कहा कठिन करतूति न समुझत कहा मृतक अबलनि सर मारत॥
तू सठ बकत सतावत काहू होत वहै अपने उर आरत।
सूर स्याम बिनु, ब्रज पर बोलत हठि अगलेऊ जनम बिगारत॥

× × × ×

(७५)

कोऊ घरजो री या चंदहिं।

अति ही क्रोध करत हम ऊपर कुमुदिनी कुल

कहा कहौं बर्षा रवि समचर कमल

. .

. . .

प्रान असास जुरा देवी भो राहु केतु किन ज

ज्यों जलहीन मीन तनु तलफति ऐसी गति ब्र

सूरदास प्रभु आनि मिलावहु मोहन मदन ग

× × ×

(७६)

कोऊ आवत है तन श्याम।

वैसेइ पट, वैसिय रथ बैठनि, वैसिय है उर

जैसी हुतीं उठि तैसिय दौरी छाँड़ि सकल गृ

रोम पुलक, गदगद भईं तिहि छन सोचि अ

इतनी कहत आए गए ऊधो, रहीं ठगी तिहि

सूरदास प्रभु ह्यौं क्यों आवैं, बँधे कुब्जा रस

× × ×

(७७)

ऊधो कहो हरि कुसलात।

कहो आपन किधौं नाहीं बोलिये मुख बात।

एक छिन युग जात हमको बिन सुने हरि प्रे

आइ आपे कृपा कीनी अब कहो कछु नीति

तब उपंग सुत सबनि बोले सुनो श्रीमुख योग

सूर सुनि सब दौरि आईं हटकि दीनों लोग

× × ×

(७८)

सुनहु गोपी हरि को संदेस।
करि समाधि अंतर्गत ध्यावहु यह उनको उपदेस ॥
वे अविगति अविनासी पूरन सब घट रह्यो समाइ ।
निर्गुण ज्ञान बिनु मुक्ति नहीं है वेद पुरानन गाइ ॥
सगुन रूप तजि निर्गुन ध्यावो इक चित इक मन लाइ।
यह उपाव करि बिरह तरौ तुम मिलै ब्रह्म तब आइ ॥
दुसह सँदेस सुनत माधो को गोपीजन बिलखानी।
सूर बिरह की कौन चलावै बूड़त मन बिन पानी।

× × × ×

(७९)

मधुकर हम ही क्यों समुझावत।
वारंवार ज्ञान-गीता ब्रज अवलनि आगे गावत ॥
नँदनंदन बिनु कपट कथा ये कत कहि रुचि उपजावत।
स्रक चंदन जो अङ्ग सुधारत कहि कैसे सुख पावत ॥
देखि विचारत ही जिय अपने नागर हो जु कहावत।
सब सुमनन पर फिरी निरख करि काहे को कमल बँधावत ॥
चरण कमल कर नयन कमल कर नयन कमल बर भावत।
सूरदास मनु अलि अनुरागी केहि बिधि हो बहरावत ॥

× × × ×

(८०)

लरिकाई को प्रेम, कहौ अलि, कैसे करिकै छूटत ?
कहा कहौं ब्रजनाथ चरित अब अन्तरगति यों लूटत ॥
चंचल चाल,मनोहर चितवनि, वह मुसुकानि,मंद धुनि गावत।
नटवर भेस,नन्द नंदन को वह विनोद,गृह बनतें आवत ॥
चरन कमल की सपथ करति हौं यह सँदेस मोंहि विष सम लागत।
सूरदास मोंहि निमिष न विसरत मोहन मूरति सोवत जागत ॥

× ×

(८१)

जोग ठगौरी ब्रज न विकैहै ।
यह ब्यौपार तिहारो ऊधो ऐसोई फिरि जैहै ॥
जापै लै आए हौ मधुकर ताके उर न समैहै ।
दाख छाँड़ि कै कटुक निबौरी को अपने मुख
मूरी के पातन के केना को मुकाहल दैहै ।
सूरदास प्रभु गुनहिं छाड़ि कै को निर्गुन निरवै

× × ×

(८२)

बिलग जनि मानहु ऊधो प्यारे ।
यह मथुरा काजर की कोठरि जे आवहिं ते का
तुम कारे, सुफलकसुत कारे, कारे मधुप भँवारे
तिनके संग अधिक छवि उपजत कमलनैन म
मानहु नील माट तें काढ़े लै जमुना ज्यों पखारे
तागुन स्याम भई कालिंदी सूर स्याम गुन न्यां

× × ×

(८३)

निर्गुन कौन देश को बासी ?
मधुकर ! हँसि समुझाय, सौंह दै बूझत साँच
को है जनक, जननि को कहियत, कौन नारि,
कैसो बरन भेस है कैसो केहि रस में अभिलाष
पावैगो पुनि कियो आपनो जो रे ! कहैगो गाँस
सुनत मौन ह्वै गयो ठग्यो सो सूर सबै मति न

⊗ ⊗

ऊधो तुम अपनो जतन करो।
हित की कहत कुहित की लागै किन बेकाज ररौ ?
जाय करो उपचार आपनो, हम जो कहत हैं जी की।
कछू कहत कछुवै कहि डारत, धुनि देखियत नहिं नीकी॥
साधु होय तिहि उत्तर दीजै तुमसों मानी हारि।
याही तें तुम्हें नँदनंदन यहाँ पठाए टारि॥
मथुरा वेगि गहौ इन पाँयन, उपज्यो है तन रोग।
सूर सुवैद वेगि किन ढूँढौ भए अर्द्धजल जोग॥

× × × ×

(८५)

ऊधो अब यह समुझ भई।
नँदनंदन के अङ्ग-अङ्ग प्रति उपमा न्याय दई॥
कुन्तल कुटिल भँवर भरि भाँवरि मालति मुरै लई
तजत न गहरु कियो कपटी जब जानी निरस गई
आनन इन्दु बरन सम्पुट तजि करखे तें न नई।
निरमोही नहिं नेह कुमुदिनी अन्तहि हेम हई॥
तन घनस्याम सेइ निसिवासर रटि रसना छिजई।
सूर विवेक हीन चातक मुख बूँदौ तो न सई॥

× × ×

(८६)

ऊधो जाहु तुम्हें हम जाने।
स्याम तुम्हें ह्याँ नाँहि पठाए तुम ही बीच भुलाने।
ब्रजवासिन सों जोग कहत हौ, बातहु कहत न जा
यह लागै न विवेक तुम्हारो ऐसे नये अयाने॥
हमसों कही लई सो सहि कै जिय गुनि लेहु अपा
कहँ अबला कहँ दसा दिगम्बर समुख करो पहिच
साँच कहौ तुमको अपनी सौं बूझत बात निदाने
सूर स्याम जब तुम्हैं पठाए तब नेकहु मुसुकाने?

(८७)

ऊधौ भली करी तुम आए।
ये बातें कहि-कहि या दुख में ब्रज के लोग हँसाए
कौन काज वृन्दावन को सुख, दही भात की छाक
अब वे कान्ह कूबरी राचे बने एक ही ताक॥
मोर मुकुट मुरली पीताम्बर पठवौ सौंज हमारी।
अपनी जटा-जूट अरु मुद्रा लीजै भस्म अधारी॥
वे तो बड़े, सखा तुम उनके, तुमको सुगम अनीत
सूर सबै मति भली स्याम की यमुना जलसों प्रीत

(८८)

मधुकर जानत नाहिंन बात।
फूकि-फूकि हियरा सुलगावत उठि न यहाँ तें जात
जो उर बसत जसोदानंदन निर्गुन कहाँ समात।
फत भटकत डोलत कुसुमन को तुम ही पातन पात
यदपि सकल वल्ली वन विहरत जाय बसत जल
सूरदास ब्रज मिले बनि आवे? दासी की कुसला

× × ×

ऊधो, कही सो बहुरि न कहियो।
जौ तुम हमहिं जिवायो चाहौ अनबोले ह्वै रहियो॥
हमरे प्रान अघात होत हैं, तुम जानत हौ हाँसी।
या जीवन ते मरन भलो है करवट लैबो कासी॥
जब हरि गवन कियौ पूरब लौं तब लिखि जोग पठायो।
यह तन जरिकै भस्म ह्वै निबरयो बहुरि मसान जगायो॥
कै रे! मनोहर आनि मिलाओ, कै ले चलु हम साथे।
सूरदास अब मरन बन्यो है, पाप तिहारे माथे॥

× × × ×

(९०)

ऊधो, हम हैं तुम्हरी दासी।
काहे को कटु बचन कहत हौ करत आपनी हाँसी॥
हमरे गुनहि गाँठि किन बाँध्यो, हम पै कहा विचार?
जैसी तुम कीनी सो सब ही जानतु है संसार॥
जो कछु भली बुरी तुम कहिहौ सो सब हम सहि लैहैं।
अपनो कियो आप भुगतैंगी दोस न काहू दैहैं॥
तुम तो बड़े बड़े के पठए अरु सबके सरदार।
यह दुख भयो सूर के प्रभु सुनि कहत लगावन छार॥

× × × ×

(९१)

... ...हीं दस बीस।
एक हुतो सो गयो स्याम संग को आराधै ईस॥
भई अति सिथिल सबै माधव बिनु जथा देह बिन सीस।
स्वासा अटकि रहे आसा लगि जीवहिं कोटि बरीस॥
तुम तौ सखा स्यामसुन्दर के सकल जोग के ईस।
सूरदास रसिक कर बतियाँ पुरवौ मन जगदीस॥

× × × ×

(९२)

ऊधो भली करी अब आए।
ंधि कुलाल कीने काँचे घट ते तुम आनि पकाए॥
ग दियो हो कान्ह साँवरे अँग-अँग चित्र बनाए।
लन न पाए नयन नीर तें अवधि अटा जो धाए॥
जकर अँवाँ जोग करि इंधन सुरति अगिनि सुलगाए
ोक उसास विरह तन प्रजलित दरसन आस फिराए।
ये संपूरन भरे प्रेम जल छुवन न काहू पाए।
ाज-काज ते गए सूर सुनि, नंदनँदन कर लाए॥

× × × ×

(९३)

ऊधो अब नहिं स्याम हमारे।
मधुबन बसत बदल से गे वे, माधव मधुप तिहारे॥
इतनिहिं दूरि भए कछु औरे, जोइ-जोइ मगु हारे।
कपटी कुटिल काक कोकिल ज्यों अंत भए उड़ि न्यारे॥
रस लै भँवर जाय स्वारथ हित प्रीतम चितहिं बिसारे।
सूरदास तिनसों कह कहिए जे तन हूँ मन कारे॥

× × × ×

(९४)

ऊधो और कछू कहिबे को?
सोऊ कहि डारो पालागों हम सब सुनि सहिबे को॥
यह उपदेस आज लौ मैं सखि स्रवन सुन्यो नहिं देख्यो
नीरस कटुक तरव जीवन गत चाहत मन हर लेख्यो॥
बसत स्याम निकसत न एक पल हिए मनोहर ऐन।
या कहँ यहाँ ठौर नाहीं लै राखौ जहाँ सुचैन॥
हम सब सखि गोपाल उपासिनि हमसों बातैं छाँड़ि।
सूर मधुप लै राखु मधुपुरी कुब्जा के घर गाड़ि।

× × × ×

(६५)

ऊधो अँखियाँ अति अनुरागी।
इकटक मग जोवति अरु रोवति भूलेहु पलक न लागी॥
बिन पावस पावस ऋतु आई देखत हौ विद्‌मान।
अबधौं कहा कियो चाहत हौ? छाँड़हु नीरस ज्ञान॥
सुनु प्रिय सखा स्यामसुन्दर के जानत सकल सुभाव।
जैसे मिलें सूर प्रभु हमको सो कछु करहु उपाव॥

× × × ×

(९६)

और सकल अंगन तें ऊधो अँखियाँ अधिक दुखारी।
अतिहि पिराति सिराति न कबहूँ बहुत जतन करि हारी॥
एकटक रहति निमेष न लावति, बिथा बिकल भइ भारी।
भरि गईं बिरह-बाय बिनु दरसन चितवत रहति उघारी॥
रे रे अलि गुरु ज्ञान सलाकहि क्यों सहि सकत तुम्हारी।
सूर सुअञ्जन आनु रूपरस आरति हरन हमारी॥

× × × ×

(९७)

मधुकर यह कारे की रीति।
मन दै हरत परायो सरवस करै कपट की प्रीति॥
ज्यों पटपद अम्बुज के दल में बसत निसा रति मानि।
दिनकर उए अनत उड़ि बैठें फिर न करत पहिचानि॥
भवन भुजंग पिटारे पाल्यो ज्यों जननी जनि तात।
कुल करतूति जाति नहिं कबहूँ सहज सो डसि भजि जात॥
कोकिल काग कुरंग स्याम को छन-छन सुरति करावत।
सूरदास प्रभु को मुख देख्यौ निसिदिन ही मोहिं भावत॥

× × × ×

(९८)

मधुकर जोग न होत सँदेसन।
नाँहिन कोउ ब्रज में या सुनिहैं कोटि जतन उपदेसन॥
रवि के उदय मिलन चकई को संध्या समय अँदेसन।
क्यों धन बसैं बापुरो चातक बधिकन्ह काज बधेसन॥
नगर एक नायक बिनु सूनो नाँहिन काज सबैसन।
सूर सुभाय मिटत क्यों कारे जिहि कुल रीति डसैसन॥

× × × ×

(९९)

ऊधो मन की मन ही माँझ रही।
कहिए जाय कौन सों ऊधो! नाँहिन परति सही॥
अवधि अधार आवनहि की तन, मन ही विथा सही।
चाहति हुती गुहार जहाँ तें तहँहि ते धार बही॥
अब यह दसा देखि निज नयनन सब मरजाद टही।
सूरदास प्रभु के बिछुरे तें दुसह वियोग दही॥

× × × ×

(१००)

ऊधो! इतनी कहियो जाय।
अति कृशगात भई हैं तुम बिनु बहुत दुखारी गाय॥
जल समूह बरसत अँखियन तें हूँकत लीने नाँव।
जहाँ-जहाँ गोदोहन कीन्हों हूँदत सोइ सोइ ठाँव॥
परति पछार खाय तेहि-तेहि थल अति व्याकुल ह्वै दीन।
मानहुँ सूर काढ़ि डारी हैं बारि मध्य तें मीन॥

× × × ×

(१०१)

अब अति पंगु भयो मन मेरो।
गयो तहाँ निर्गुन कहिबे को, भयो सगुन को चेरो॥
अति अज्ञान कहत कहि आयो दूत भयो बहिकेरो।
निज जन जानि जतन तें तिन सों कीन्हों नेह घनेरो॥
मैं कुछ कही ज्ञान गाथा ते नेकु न परसति नेरो।
सूर मधुप उठि चल्यो मधुपुरी बोरि जोग को बेरो॥
× × × ×

(१०२)

दिन दस घोष चलहु गोपाल।
गैयन की अवसेर मिटावहु भेंटहु भुज भरि ग्वाल॥
नाचत नहीं मोर वा दिन तें आए बरषा काल।
मृग दूबरे दरस तुम्हरे बिनु सुनत न बेनु रसाल॥
वृन्दावन भावतो तुम्हारो देखहु स्याम तमाल।
सूरदास मैया जसुमति के फिर आवहु नँदलाल॥
× × × ×

(१०३)

ऊधो मोहिं ब्रज बिसरत नाहीं।
हंससुता की सुन्दर कगरी अरु कुंजन की छाँहीं॥
वै सुरभी, वै वच्छ दोहनी, खरिक दुहावनि जाँहीं।
ग्वाल-बाल सब करत कुलाहल नाचत गहि-गहि बाँहीं।
यह मथुरा कंचन की नगरी मनि मुक्ताहल जाँहीं॥
जबहिं सुरति आवति वा सुख की जिय उमगत, तनु नाँहीं॥
अनगन भाँति करी बहु लीला जसदा नंद निबाहीं।
सूरदास प्रभु रहे मौन ह्वै यह कहि-कहि पछिताहीं॥
× × × ×

टिप्पणी

(भक्ति)

(१) अविगत = अज्ञेय। अंतरगत = हृदय में। निरालम्ब = किसी सगुण (साकार) के सहारे के बिना। चकृत = चकित होकर।

(२) अनत = अन्यत्र (किसी अन्य स्थान में)। सचु = सुख। कमलनैन = श्रीकृष्ण। खनावै = खुदवावै। करील = एक काँटेदार वृक्ष। छेरी = बकरी।

(३) ठाउँ = स्थान। सुहाउँ = अच्छा लगूँगा। सैंत-मेंत = कौड़ी मोल (बिना मूल्य)।

(४) चोलना = परिधान (वस्त्र)। पखावज = एक प्रकार का बाजा। काँछि = अच्छी तरह धारण कर अथवा अभिनीत कर। अविद्या = अज्ञान।

(५) सारँग = हिरण। चितवे = देखती है। परिफुल्लित = खिल जाता है। भान = (भानु) सूर्य।

(६) कोटिक = करोड़ों। चारि पदारथ = धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष। तीन लोक = स्वर्गलोक, मर्त्यलोक व पाताललोक। बहुरि = फिर। भव = संसार।

(७) रसना = जीभ। भावै = अच्छा लगता है। सेवैं = सेवा करते हैं।

(८) कल्पन = कलपना (कष्ट, पीड़ा)। काचै = काँच।

(९) श्राधार=सहारा। इतोई=इतना ही (यहाँ)। भवभार=सांसारिक दुःख।

(१०) साल=शरीर। रहि जैहै=पड़ा रह जायगा।

(११) पति=लाज। श्रजा=बकरी। गर=गला। सेंवर=शल्मलि वृक्ष का फल जिसमें सार कुछ भी नहीं होता केवल रुई-सी ही दिखती है। खार=धूल, गढ्ढा (खड्डा

(१२) गुर=गुड़ (मीठा)। सवाद=स्वाद। श्रनत=अन्यत्र।

(१३) एक से=एक समान। हौं बड़=मैं बड़ा हूँ। श्रौसर=श्रवसर (समय)।

(१४) शुक=श्रीवेदव्यास पुत्र, श्री शुकदेवजी। परीक्षित=पांडव वंश के महाराज परीक्षित जिन्हें श्री शुकदेवजी ने श्रीमद् भागवत की कथा सुनाई थी। साखि=साक्षी।

(१५) बिहान=प्रातःकाल (श्ररुणोदय)। दरस्यो=दिखाई पड़ा भावै=चाहे, अच्छा लगे तो। निसिबासर=रात-दिन श्रान=शपथ।

(वात्सल्य)

(१६) हौं=मैं। ढोटा=पुत्र। भीर=भीड़।

(१७) मल्हावै=पुचकार कर प्यार करती है। वेगहि=शीघ्र ही। सेन=संकेत। मधुरै=मधुर (धीमी)। श्रमर=देवता। नँद-भामिनि=नंद की पत्नी (यशोदा)।

(१८) सुवावै=सुलाती है। शयन-गति=सोने की स्थिति। विरंचि=ब्रह्मा। असित=काले। श्रलक=बाल। सोभावै=शोभा को प्राप्त होते हैं। पन्नगपति=शेषनाग।

(१६) फूली = प्रसन्न हुई। दँतुलियाँ = दाँत। महर = नन्द। द्विज = दाँत।

(२०) वारी = न्यौछावर होती हैं। कुटिल = घुँघराले। विकट = टेढ़ी। सीपज = मोती। सुरगुरु = वृहस्पति। रदछद = ओंठ। लर = लड़ी।

(२१) जँभात = जमुहाई लेते हैं। गात = शरीर। निमिष = पल (क्षण)।

(२२) कुलही = टोपी। मघवा = इन्द्र। चिकुर = बाल। अवली = पंक्ति। रुनाइ = सुन्दरता। गुरु असुर = शुक्राचार्य (शुक्र)। देवगुरु = वृहस्पति। भौम = मंगल। जलपाइ = बोलना, कहना। अलप = थोड़ा।

(२३) देहरि = देहली। नघावन = नाघने (पार जाने) में। अहुठ पैग = साढ़े तीन पग। बलबीर = बलराम।

(२४) कलबल = दही मथने की ध्वनि। आरि परे = अड़ गए (आर करने लगे)। गिरि = गोवर्धन। यमठ = कच्छप। बिबि = दो।

(२५) दधि-सुत = उदधिसुत (चन्द्रमा)। खगपति-अरि = सर्प (वासुकि)। असुरनि = राक्षस। बानर-पति = सूर्य। बिदुखि = दुखी होकर। बियो = दूसरा—यहाँ पृथक्।

(२६) सुपक = पकी हुई। मनुहारि = बलैया लेकर (मनाकर)। लकुटिया = लकड़ी (बेंत)।

(२७) काजरी = काली। धौरी = सफेद। नावत = डालते हैं, गिराते हैं। लौनी = मास्तन।

(२८) ओकि = उछाल कर हाथ में लेना। अलपुट = जलपात्र। धौराए न यहौंगी = तुम्हारे बहकाने में न आऊँगी। तन-ताप = अपनी शारीरिक तपन। दहौंगी = मिटाऊँगी।

(२९) हेरयो=हेरना, देखना, प्राप्त करना। विधु=चन्द्रमा। विरुझाने=मन में रिसाते हुए।

(३०) झझकि उठयो=चौंक पड़ा। दीठि=दृष्टि (नजर)। आरति=हठ। त्रयताप=दैहिक, दैविक, भौतिक (तीन दुःख)। वदन=मुख। बिसारति=भुला देती हैं।

(३१) उड़पति=चन्द्रमा। व्रज-वनिता=गोपियाँ। अम्बुज=कमल।

(३२) दाऊ=बलराम। जायौ=पैदा किया। रिस=क्षोभ। स्यामल=साँवला। बलभद्र=बलराम। चबाई=उपद्रवी (शरारती)। धूत=धूर्त्त, दुष्ट।

(३३) अबेर=देर। ओट=आड़ (परे)। भावत=अच्छे लगना। चीन्हे=जाने-पहचाने (पहचानना)।

(३४) सकारे=सवेरे (दूसरे दिन)। खेह=धूल। बियारी=व्यालू (सायंकाल का भोजन)।

(३५) बोलि लेहु=बुला लो=लुकाई। छिप रहें। आँखिमुदाई=आँखमिचौनी। मनमोदा=मन में प्रसन्न।

(३६) गुसैयाँ=स्वामी। छैयाँ=शरण, आश्रय। रुहठि=रोष। ग्वैयाँ=सखा, मित्र।

(३७) पाँड़े=ब्राह्मण। पाक=भोजन तैयार कर। ठाकुरहिं=भगवान् (शालिग्राम की मूर्ति)। अंतर=भेद (बीच)।

(३८) साँटी=लकड़ी। ठाटी=बनाई। वदन उघारि=मुँह खोल कर। वार=देर। भरम-जवनिका=भ्रम का पर्दा (यशोदा का भ्रम)।

(३९) पट=वस्त्र। आरति=आरती। गात=शरीर। जिहि=जिससे।

(४०) ढिग=पास में। मुख मेल्यौ=मुख में डाल लिया। घालै सबै नसाई=सब कुछ नष्ट कर दिया। सिला=शालिग्राम की बटिया।

शृंगार

(४१) फूली=हर्षित। परयौ=पड़ा हुआ। आहि=है। न्यारौ=अलग।

(४२) भजे=भाग गए। खोरी=गली।

(४३) पैठे=आए, प्रविष्ट हुए। उतहिं=उधर ही से। पराइ=भाग गए। अँकवारि=अङ्क (छाती)। निरवारि=छुड़ा सकता है।

(४४) उरहन=उलहना। मिस=बहाने से। उबरयो=बचा हुआ। लुढ़ाई=लुढ़का दिया।

(४५) इतनक=इतना-सा ही (छोटा)। ठगा=धोखा। उरज-कठोरी=कठोर स्तनवाली। भोरी=भोली।

(४६) ख्याल परै=ऐसा समझ पड़ता है अथवा 'खेल-खेल में' भी अर्थ हो सकता है। सींकै=छींके पर। भाजन=बर्तन। साँटि=लकड़ी।

(४७) कुँवरि=राधा। चितलाइ=चित्त लगाकर।

(४८) ठगमूरि ठगौरी=चित्त मोहित हो गया। ठगमूरी—वह बूटी जो किसी को बेहोश करने के लिए ठगों द्वारा प्रयुक्त होती है। ठगौरी=टोना, जादू (मुझ पर उस समय से जादू का-सा प्रभाव पड़ गया है, मैं सुध-बुध खो बैठी अब से ....।)। ढोटा=पुत्र। चंदन खोरी=चंदन का खौर (तिलक)। मन्मथ=कामदेव। चितचिट्ठौरी=

पीताम्बर। दुलरी=दो लड़ीवाली (माला)। बिकट= कुटिल (टेढ़ी)। गारी=एक प्रकार की रागिनी। लगौरी= लगा रहता है।

(४९) स्यामसुन्दर रस=कृष्ण के प्रेम में। व्रजवीथिन=व्रज की गलियों में। रसालहिं=प्रेम भरे। तक्र=छाछ (दही)। न भावै=अच्छा नहीं लगता।

(५०) सरित=सरिता (नदी)। लही=प्राप्त हुई। मिलि=पड़कर (भँवर में फँसकर)। घूँघट-पट करार=घूँघट का वस्त्र रूपी किनारा। फेरिहू न चहो=संसार की ओर लौट कर नहीं देखती। पलपथ=पलक रूपी पथिक। नाव धीरज ···गही=धैर्य रूपी नौका पकड़ी नहीं जाती, धीरज नहीं बँधता।

(५१) रुचि पंकज=सुन्दरता रूपी कमल। मधुकर=भौंरा। रैन बिहाने=रात समाप्त होने पर। भ्रुव=भौंहें। द्विज कोटि=दाँत की कोर। वज्रदुति=हीरे की चमक। सिली-मुख=भौंरा।

(५२) सुर=स्वर, ध्वनि। वसननि=वस्त्र (पीताम्बर) में। वरहिं-मुकुट=मोर (मोरपंखों) का मुकुट।

(५३) पैठि=प्रवेश करके। लोक-वेद प्रतिहार पहरुआ=लोक मर्यादा प्रतिहारी (दरबान) और वेद मर्यादा पहरेदार थे तो भी। तारौ=ताला। कुँची=कुंजी (ताली)। पचि= प्रयत्न करके। सच्यो=संचित किया था। सुधन=सुन्दर धन (लज्जा)।

(५४) थावर=स्थावर, अचल। पाहन···बिकास्यौ=पत्थर में कमल विकसित कर दिये। निसिवर=श्रेष्ठ रात्रि (शरद् पूर्णिमा) मैमत=मदमत्त। उलटे=विपरीत हो गए।

(५५) पुलिन = किनारा । जामिनि = रात्रि । विश्रामिनि = मन को आनन्द पहुँचानेवाली (गोपियाँ)।

(५६) ही यँ = तूने (मुरली ने) । हिरान्यो = खो गया । सयान = चतुरता । उपायो = उत्पन्न किया ।

(५७) विचारैं = जपते हैं । रसनाकर = जीभ रूपी हाथ से । उघारैं = खोलते हैं । पुरावहु = पूर्ण करो । काम = कामना, इच्छा ।

(५८) मानि = मानकर, समझकर । पानि = हाथ । आनि = डालकर ।

(५९) भाषि कै = बोलकर (पुकारकर)। चितए = देखा ।

(६०) परतीति = विश्वास । विथा...... लई = मछली की उपमा व्यर्थ में ही पाई । समौ = समय । सूल = पीड़ा । दगा = धोखा (पलकों के उस समय मुँद जाने के कारण)।

(६१) कनियाँ = गोद । बहुरो = फिर । सचु = सुख । चैहौं = देखूँगी (प्रतीक्षा करूँगी)। धँसि लैहौं = धँस जाऊँगी, डूब मरूँगी ।

(६२) समुहाय = सामने होकर (ब्रज की ओर) । लटपटाल = विचलित होकर । उतहि = उधर (मथुरा की ओर)। बहाइ = बहते हुए (विरह-समुद्र में बेहोश), बहते चले । नियराइ = निकट ।

(६३) बूझै = पूछती है । फूक = फूँककर सुलगा दिया । धृग = धिक्कार । अध बोलत = आधे बोलते ही, कहते ही ।

(६४) सराहौं = सराहना करती हूँ (व्यंग्य)। मधुपुरी = मथुरा । लड़ैते = लाड़ला, प्यारा । पचिहारी = थक गई । पर हाथ = वसुदेव को, दूसरे को ।

(६५) उलटि दिया=उलटकर जब चले। मसान=श्मशान।
अघाइ=संतुष्ट होकर।

(६६) हौं=मैं। किन=क्यों न। न्हातहु=नहाते भी। खसै=टूटे। बार=बाल।

(६७) मया=मोह, ममता। टेव=स्वभाव (आदत)। जानत=जानती हो (माता होने के नाते)। अलक लड़ैतो=अत्यधिक प्यारा।

(६८) नेति=मथानी की रस्सी। हुतो=था। मनसा हू=मन में भी। गहै=प्राप्त करते। कौड़ी हू न लहै=थोड़ा-सा भी सुख प्राप्त नहीं होता, कौड़ी से भी नहीं लेता (खरीदता)।

(६९) अनल=अग्नि। पुंजैं=समूह। खगरो=पक्षि-समूह। घनसार=कपूर। दधिसुत=उद्धिसुत, चंद्रमा। भुंजैं=भूँजती है। लुंजैं=अपंगु (लँगड़ी)। धुंजैं=धुंध (धूमिल पड़ना)।

(७०) सुरति=स्मृति (याद)। पालागों=पैर पड़ती हूँ। हियो=हृदय।

(७१) जुर=ज्वर। मन=मनु, मानों। पर्यंक=पलंग। धुकि=गिरकर। उपचार-चूर=उपचार का चूर्ण। प्रसेद=पसीना। व्याज=बहाना।

(७२) मरनोऊ=मृत्यु भी। कुरंग=हिरण। परेवा=पक्षी (कपोत)।

(७३) जियावत=जीवित रखता है। प्रीतम=प्रिय (मेघ)। दाह=जलन, विरह-दाह।

(७४) बिथहिं=पीड़ा। मृतक=मरी हुई-सी। सर=बाण। आरत=दुःखी। अगलेऊ=आगे का, अगला।

(७५) बरजौ=मना करो। तमचुर=मुर्गा। बलाहक=बादल। रहत थिरकै=आगे-पीछे हिलरहा है, अर्थात् आगे नहीं चलता, एक ही स्थान पर कभी आगे चलता है, कभी पीछे को हट जाता है। शैल=मन्दराचल। पन्नग=वासुकि। कमठ=कच्छप। जरा=राक्षसी का नाम। तलफति=तड़पती है।

(७६) दाम=माला। ठाम=स्थान। अंग अभिराम=सुन्दर शरीर, श्रीकृष्ण। सोचि=समझकर।

(७७) उपंगसुत=ऊधव। हटकि=रोक दिया।

(७८) अंतरगत=हृदय में। उपाव=प्रयत्न। दुसह=असहनीय।

(७९) स्रक=माला। बहरावत=भटकाते (बहकाते) हो। कर नयन कमल धर=कृष्ण।

(८०) लरिकाई=बालापन का। निमिष=पल (क्षण)। बिसरत=भूलती है।

(८१) निबौरी=नीम का फल। केना=सौदा (विनिमय में)। मुक्ताहल=मोती। गुनहिं=सगुण को। निरवैहैं=निबाहेगा, भजेगा।

(८२) बिलग=बुरा। सुफलक सुत=अक्रूर। भँवारे=घूमने वाले। मनिआरे=सुहावने। माट=मिट्टी का बरतन। पखारे=धोए। कालिंदी=यमुना। स्याममई=काली होगई।

(८३) बासी=रहनेवाला। मधुकर=भौंरा (ऊधव)। सौंहैं=शपथ देकर। गाँसी=रहस्य या कपट की बात, छल की बात।

(८४) जतन=उपाय (उपचार)। रटौ=रट लगाए हो। वेगि=शीघ्र ही। अर्द्धजल जोग=शव-स्नान के योग, मरने के निकट।

(८५) न्याय दई=उपमायें न्यायोचित रूप में दी गईं। कुंतल=केश। भुरै लई=पकड़ लिया। गहरु=देर। करखै=आकर्षण। नई=झुकी। हिम=पाला। दई=नष्ट हुई। सेइ=सेवाकर। छिजई=घिस डाली। सई=गई।

(८६) जाने=समझ गई। ह्याँ=यहाँ। अयाने=मूर्ख, अनाड़ी। अपाने=अपने। दसा दिगम्बर=योगियों की अवस्था, योगि-जीवन। सौं=शपथ। निदाने=वास्तव में (सच्चे रूप में)। नेकहु=थोड़ा भी।

(८७) छाक=कलेवा, ग्वालों, किसानों का दोपहर का भोजन। राचे=प्रेम में अनुरक्त। ताक=मेल (एकसे होगए)। सौंज=वस्तु, सामग्री। अधारी=खड़िया (झोला), वह लकड़ी जिसे साधु लोग सहारे के लिए रखते हैं।

(८८) हियरा=हृदय। जलजात=कमल। पातन पात=पत्ते-पत्ते पर।

(८९) अनबोले=चुप। करवट लैबो कासी=मुक्ति की इच्छा से काशी में अपने को आरे से चिरवाना। करवट=करवत (आरा)। निबर्यो=निबर गया, होरहा।

(९०) गुनहि=गुणोपासना को। विचार=निराकारोपासना, योगसाधना। हाँसी=हँसी (उपहास)। छार=भस्म।

(९१) हुतो=था। बरीस=वर्ष। पुरवौ=पूर्ण करो (संतुष्ट करो)।

(९२) कुलाल=कुम्हार । काँचे=कच्चे । अटा=अटारी । अँवाँ=कुम्हार का आँवाँ । संपूरन=संपूर्ण ।

(९३) जोइ-जोइ=प्रतीक्षा करते-करते । मगु=मार्ग । न्यारे=अलग । तनहूँ ....कारे=जिनका शरीर और मन दोनों काले हों ।

(९४) पालागों=पैरों पड़ती हूँ । ऐन=अयन (घर) । या कहँ=इस निर्गुण को ।

(९५) अनुरागी=प्रेमिनी । विदमान=विद्यमान, आप स्वयं उपस्थित हो देख रहे हो ।

(९६) पिराति=पीड़ा करती हैं । सिराति=शीतलता नहीं प्राप्त करती । निमेष=पलक । बाय=वायु (हवा) । उघारी=खुली हुई । गुरु=भारी । सलाकहिं=शलाका को । आरति=कष्ट ।

(९७) पटपद=भौंरा । अम्बुज=कमल । रति=प्रेम । उए=निकलने पर । अनत=अन्यत्र ।

(९८) अँदेस=अँदेसा (संदेह) । सबैसन=सब से । कारे=काले (नाग) । डसैसन=डसना ।

(९९) गुहार=पुकार (रक्षा के लिए) । देखि=तुम देखो । दही=दग्ध हुई ।

(१००) कृशगात=दुर्बल शरीरवाली । हूँकत=हुँकार मारती हैं । ठाँव=स्थान । पछार खाय=पछाड़ खाकर । बारि=जल । मीन=मछली ।

(१०१) चेरो=दास । वहिकेरो=उसका । नेरो=निकट । बेरो=बेड़ा । बोरि=डुबोकर ।